गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ0 भारतभूषण विद्यालंकार
उपसम्पादक
डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग
एवं
निदेशक -
श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक -
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार- 249404

मार्च, अप्रैल, मई, जून	वर्ष	फाल्गुन, चैत्र, बैशाख, ज्येष्ठ
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार- २४९४०४

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोनः 425975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

ओं माहिर्भूर्मा पृदाकुनमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्याऽउपऋहतस्य पथ्याऽअनु।।

यजु० ६.१२

पदार्थ- हे (आतान) अच्छे प्रकार सुख के विस्तार करनेवाले विद्वान! तू (मा) मत (अहिः) सर्प के समान कुटिलमार्गगामी और (मा) मत (पृदाकुः) मूर्खजन के समान अभिमानी व व्याघ्र के समान हिंसा करने वाला (भूः) हो (ते) (नमः) सब जगह तेरे सुख के लिए अन्न आदि पदार्थ पहले ही प्रवृत्त हो रहे हैं और (अनर्वा) अश्व आदि सवारी के बिना निराश्रय पुरुष जैसे (घृतस्य) जल की (कुल्याः) बड़ी धाराओं को प्राप्त हो वैसे (ऋतस्य) सत्य के (पथ्याः) मार्गों को प्राप्त हो।

भावार्थ- किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्ममार्ग में कुटिल न होना चाहिए किन्तु सर्वदा सरलभाव से ही रहना चाहिये।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

विषय-सूचि

श्रुति-सुधा

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।

(ऋग्वेद : 10.151.1)

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धा द्वारा मन की अग्नि प्रदीप्त होती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से ही जीवन यज्ञ में आहुति दी जाती है। (श्रद्धां भगस्य मूर्धनि) श्रद्धा से ही हम सौभाग्य शिखर पर पहुंचते हैं। यह सत्य वेदवाणी द्वारा अनुमोदित और प्रमाणित है- इसे जानो।

The sacred fire is kindled with sincere faith, the oblation is offered with the same intensity of faith. Likewise the soul is infused with intense devotion and actions are dedicated at the feet of God with the spirit of devotion. The whole life attains glory through devoted deeds. This fact is declared by divine scriptures.

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

(ऋक्: 3.62.10, यजु0: 22.9, साम: 6.3.1)

हम(देवस्य सवितुः) अक्षय ज्योति के स्रोत प्रभु के (तत् वरेण्यं भर्गः) उस दिव्य प्रकाश को (धीमहि) ध्यान द्वारा धारण करें। (यः नः धियः प्रचोदयात्) जो प्रकाश हमारी धारणाओं को दिव्य बनाये, ज्योतिष्मान् बनाये।

O Supreme Lord !
Thou art ever existent,
Ever conscious, blissful.
We meditate on Thy most sublime glory.
Mayest Thou guide and inspire our intellect
On the path of highest divinity !
May we be able to discriminate
Between truth and falsehood.

-(वेद सौरभ, सत्यकाम विद्यालंकार, पृ० ७-८ से उद्धृत)

आधुनिक हिन्दी में कर्त्ता और विधेय का निर्धारण और उनका अर्थपरक व वाक्यविन्यासी विश्लेषण

ओलेग. उलत्सिफेरोव[1]

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी (आगे आसाहि) में बनावट और व्याकरणिक अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं: उद्देश्यप्रधान जिसमें उद्देश्य एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में विधेय से नियमानुसार समन्वित होता है और कर्त्ताप्रधान जिसमें कर्त्ता सदा परसर्गसहित प्रयुक्त होता है और इसलिए विधेय से समन्वित नहीं होता। आसाहि में एक प्रकार के उद्देश्यप्रधान वाक्य (*बालक किताब पढ़ता है*) का मुकाबला सात प्रकार के कर्त्ताप्रधान वाक्यों से होता है जिनमें निम्नलिखित वाक्य आते हैं : १. साधक कारकीय (*बालक ने किताब पढ़ी*), २. कर्मवाच्य (*बालक द्वारा किताब पढ़ी गयी*), ३. संप्रदानवाचक (*बालक को किताब पढ़नी पड़ी*), ४. भाववाच्य (*बालक से किताब नहीं पढ़ी जाती*), ५. स्वामित्ववाचक (*बालक के पास किताब नहीं है*), ६. स्थानवायक (*बालक में हिम्मत नहीं है*) और ७. तुमर्थपरक (*बालक को किताब पढ़ना आवश्यक है*)।

अविस्तृत उद्देश्यप्रधान वाक्य अनिवार्यत: द्विघटकीय होता है जिसमें विधेय के साथ एकवचन तथा बहुवचन के परसर्गहीन रुप में उद्देश्य जो यहां कर्त्ता की भूमिका भी निभाता है यानी कर्त्तावाचक उद्देश्य आता है। विधेय निम्नलिखित रुपो में आता है : १. पुरुषवाचक (*मैं चलूं*), २. पुरुषवाचक-लिंगदर्शक (*बालक आयेगा*), ३. कर्तृवाच्य के अपूर्ण कृदंत (*बालक नहीं सोता*), ४. कर्तृवाच्य के पूर्ण कृदंत (*बालक आया*), ५. पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक (*आदमी पिये हुए था*), ६. संतत कृदंत (*बालक जा रहा है*), ७. स्थायी गुणवाचक कृदंत (*बालक जाने वाला है*), ८. नामिक अंक (*आसमान नीला*)।

भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप ऐसे वाक्यों में (मुख्यत: बोलचाल की भाषा में) कोई एक मुख्य संघटक छूट सकता है, परन्तु वह सदा अपना स्थान सुरक्षित रखता है : *तुम चलोगे?, चलूंगा, वह आया? हां, अकेली राते, प्रभात और संध्या बेलाएं, जलती दोपहरी* (चतुरसेन शास्त्री)।

अविस्तृत साधक कारकीय वाक्य अनिवार्यत: त्रिधटकीय होता है। इसमें कर्त्ता ने परसर्गसहित आता

---

१. लेखक रुस में हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् के रुप में जाने जाते हैं। दिल्लीस्थ रुसी दूतावास में भूतपूर्व संस्कृति विभागाध्यक्ष एवं रुसी विदेश मंत्रालय के वरिष्ठ परामर्शदाता, रुस भारत मैत्री संघ के कार्यकारिणी सदस्य के रुप में जाने जाते हैं। 'हिन्दी में शब्द बन्ध' और 'हिन्दी में क्रिया' 'हिन्दी का व्यावहारीक कोश' 'हिन्दी का भाषा वैज्ञानिक शब्द कोश' आपकी विशिष्ट हिन्दी रचनाऐं हैं।

-सम्पादक

है, सकर्मक क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म वाक्यगत उद्देश्य का स्थान लेता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार समन्वित होता है : *बालक ने किताब पढ़ी*। यदि मुख्य कर्म परसर्गसहित प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है : *बालक ने किताब को पढ़ा*।

भाषायी प्रयोग के प्रभावस्वरुप यहां (विशेषकर बोलचाल की भाषा में) कोई एक या कोई दो मुख्य संघटक छूट सकते है : *किसने किताब पढ़ी? बालक ने, बालक ने क्या पढ़ा? किताब*। इसके अतिरिक्त उद्देश्य आश्रित वाक्य में रुपांतरित हो सकता है *उसने कहा कि* .....।

अविस्तृत कर्मवाच्य वाक्य भी अनिवार्यत: त्रिघटकीय होता है, हालांकि भाषीय प्रयोग के प्रभावस्वरुप व्यापार का कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित रखते हुए अक्सर लुप्त होता है। इस कारण से यह वाक्य साधक कारकीय वाक्य से भिन्न होता है क्योंकि इसमें कर्त्ता संरचनात्मक तौर पर सदा ही उपस्थित होता है। सकर्मक क्रिया का परसर्गहीन मुख्य कर्म यहां भी वाक्यगत उद्देश्य हो जाता है जिसके साथ विधेय नियमानुसार समन्वित होता है : किताब (*बालक द्वारा*) पढ़ी गयी। अगर यह कर्म परसर्गहीन प्रयुक्त होता है तो वाक्य उद्देश्यहीन रह जाता है जिसके कारण विधेय भाववाचक हो जाता है (*बालक को बुलाया गया*)।

अविस्तृत संप्रदानवाचक वाक्यों को पांच श्रेणीयों में बाँटा जा सकता है जिनमें दो मुख्य हैं। इन वाक्यों में विशेषता यह है कि इनमें कर्त्ता सदा ही *को* परसर्गसहित आता है।

पहली श्रेणी में आवश्यकताबोधक रचनांए आती हैं जिनका विधेय *पड़ना* एवं *होना* क्रियाओं तथा *चाहिए* क्रियार्थक शब्द और कृदंतपरक (विकारी) तुमर्थ के योग से बनता है। अकर्मक तुमर्थ के चलते रचना द्विघटकीय होता है और सकर्मक तुमर्थ के चलते त्रिघटकीय होती है। सकर्मक क्रिया को परसर्गहीन कर्म यहां भी वाक्यगत उद्देश्य बन जाता है *: बालक को जाना है, बालक को किताब पढ़नी है*। ऐसी रचनाओं में कर्म सपरसर्ग बहुत कम आता है।

दूसरी श्रेणी में स्थायी त्रिघटकीय रचनाएं आती है जो लक्षणान्वित कर्त्ता, वाक्यगत उद्देश्य के प्रकार्य में प्रयुक्त होने वाली संज्ञा, जो प्रभावन का सामान्य अर्थ प्रकट करती है, और हैं (*होना*) स्थितिदर्शक संयोजक क्रिया के योग से बनती है। यहां आने वाली संज्ञाओं की प्राय: बंद सूची है जिसमें ६० संज्ञाएं आती है : *इससे पंडित सर्वदयाल को घृणा थी* (जैनेन्द्र कुमार), *प्यारी को कोई बेचैनी नहीं होती* (रांगेय राघव)। यहां भी भाषीय प्रयोगके प्रभावस्वरुप (मुख्यत: बोलचाल की भाषा में) कर्त्ता छूट सकता है : *आपसे मिलकर बड़ी खुशी है*।

अविस्तृत भाववाच्य वाक्य में *जाना* सहायक क्रिया से बने पूर्ण कृदंत के रुप प्रयुक्त होते हैं। साधक कारकीय वाक्यों के प्रतिकूल यहां न केवल सकर्मक वरन् अकर्मक क्रियाओं से बने कृदंत भी आते हैं। सकर्मक क्रियाा के चलते रचना त्रिघटकीय है और अकर्मक क्रिया के चलते द्विघटकीय है। कर्मवाच्य वाक्य के प्रतिकूल यहां *से* परसर्गसहित कर्त्ता केवल विशेष अर्थगत स्थितियों में छूट सकता है। यहां व्यापार की अपनी विशेषता भी है क्योंकि यहां व्यापार संपन्न करने की कर्त्ता की असमर्थता या अनिच्छा पर जोर दिया जाता है। इसी

कारण से विधेय बहुधा नकारात्मक आता है। त्रिघटकीय रचना में विधेय नियमानुसार वाक्यगत उद्देश्य से समन्वित होता है : *मेरा सुख भगवान् से नहीं देखा गया* (प्रेमचंद), ... *पर यहां आठों पहर की बकबक उससे न सही गयी* (प्रेमचंद)। द्विघटकीय रचना में विधेय सदा भाववाचक रुप में आता है : मुझसे तो ऊपर न लेटा गया (अश्क), *उसकी स्त्री से न रहा गया* (प्रेमचंद)।

सामान्यकृत कर्त्ता यहां मुख्यत: लुप्त होता है : तकदीर से लड़ा नहीं जाता (चार दरवेश की कहानी), *एक निश्चित धन देने पर उसका सदस्य बना जा सकता है* (आर.के. गुप्त)।

अविस्तृत स्वामित्ववाचक वाक्य संरचनात्मक-अर्थपरक दृष्टि से सब से स्थिर है क्योंकि संरचनात्मक बनावट की दृष्टि से वह सदा ही त्रिघटकीय है। इस रचना का कर्त्ता के पास और के यहां और इसी अर्थ में प्रयुक्त के स्वामित्वसूचक परसर्गो के साथ आता है : *बड़े आदमियों के पास धन है* (प्रेमचंद), *सत्यवान के कोई संतान नहीं हुई* (भोलानाथ तिवारी)।

अविस्तृत स्थानवाचक वाक्य भी स्थिर होता है। यहां कर्त्ता में परसर्ग के साथ आता है और वाक्यगत उद्देश्य भाववाचक संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *मृदुला में संकीर्णता और ईर्ष्या न थी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, दो अंतिम वाक्यभेदों में विधेय की हैसियत से *ह* (*होना*) स्थितिदर्शक क्रिया आती है।

तुमर्थपरक वाक्यों में आसहि में तुमर्थ की विशेषता के कारण ही तुमर्थ और विधेय का समन्वय नहीं हो सकता है और विधेय न केवल संलग्न संज्ञा से अन्वित होता है बल्कि वह तुमर्थ से सार्थक विराम से ही अलग हो सकता है जो लिखने में कामा (अर्द्धविराम) द्वारा दिखाया जाता है: *बड़ा हाशिया छोड़कर लिखना, द फ्तर में एक उन्हीं की आदत थी* (शानी)। इस तरह तुमर्थपरक वाक्य मानों दो भागों में विभक्त होता है : तुमर्थ द्वारा व्यक्त प्रकरण (टोपिक), जिसमें पूरानी सूचना निहित है, और संज्ञा और विधेय से बने पदबंध द्वारा प्रकट विवरण (कामेन्टरी), जिसमें नयी सूचना निहित है : *उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी* (अश्क)। यहां विधेय के प्रकार्य में मुख्यत: *ह* (*होना*) स्थितिसूचक क्रिया आती है।

आसाहि में एक और विशेषता है प्रेरणार्थक क्रियाओं के साथ अनेक कर्त्ताओं का प्रयोग जिसके कारण वाक्य में वाक्यगत उद्देश्य के अतिरिक्त तीन कर्त्ता उपस्थित हो सकते है। *अम्मा ने आया से बच्चे को दूध पिलाया* वाक्य में पहले दर्जे का कर्त्ता है (*अम्मा ने*), जो दूसरे दर्जे के प्रेरित कर्त्ता (*आया से*) को आदेश देता है कि वह बच्चे को दूध पिला दे। बच्चे को का संघटक व्यापार के प्रच्छन्न कर्त्ता के प्रकार्य में आता है क्योंकि वास्तव में बच्चे ही ने दूध पिया। प्रेरणार्थक विधेय (*पिलाया*) वाक्यगत उद्देश्य (*दूध*) के साथ नियमानुसार समन्वित होता है। जब प्रच्छन्न कर्त्ता प्रयुक्त नहीं होता तो रचना द्विकर्त्तावाचक हो जाती है : *डाक्टर साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये* (प्रेमचंद)। भाषीय प्रयोग के प्रभावानुसार दूसरे दर्जे का प्रेरित कर्त्ता अपना स्थान सुरक्षित करते हुए लुप्त हो सकता है : *शाहजहां ने ताजमहल बनवाया*।

जैसा कि उपरोक्त सभी उदाहरणों से विदित होता है, आसाहि में सरल अविस्तृत वाक्य अनिवार्यत: द्विघटकीय यानी कर्त्ता और विधेय से बना होता है : *मुझे जाना है, बालक से सोया नहीं जाता*। कुछ रचनाओं में कर्त्ता और उद्देश्य का प्रकार्य एकीभूत हो जाता है और तब एक नयी व्याकरणिक कोटि बन जाती है कर्त्तावाचक उद्देश्य : *बालक आएगा, बालक पढ़ता है, बालक गया*। सरल अविस्तृत वाक्य तब अनिवार्यत: त्रिघटकीय हो जाता है जब इसमें कर्त्ता और विधेय के अतिरिक्त वाक्यगत उद्देश्य आता है। इसके प्रकार्य में निम्न पदरुप प्रयुक्त हो सकते है : १. क्रिया का कर्मवाचक विस्तारक जो कुछ उपरोक्त वाक्यों में वाक्यगत उद्देश्य की भूमिका निभाता है, २. प्रभावन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली कुछ संज्ञाएं, ३. निश्चित अर्थश्रेणियों की कुछ जातिवाचक एवं भाववाचक संज्ञाएं (स्वामित्ववाचक और स्थानवाचक वाक्यों में), ४. विधेय संलग्न संज्ञाएं (तुमर्थपरक वाक्य में)।

जैसा कि अच्छी तरह ज्ञात है, कर्त्ता व्यापार (या प्रक्रिया) का एक मुख्य पात्र है जिसका चुनाव विधेय के शाब्दिक-व्याकरणिक रुप और अर्थपरक सार के आधार पर किया जाता है।

आसाहि में विधेय की उन विशेषताओं के आधार पर कर्त्ता (कर्त्तावाचक उद्देश्य सहित) के निम्नलिखित भेद है :

१. वास्तविक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संतत कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक जा रहा है*। साथ ही कर्तृवाची तथा करणवाची परसर्गो समेत नाम भी आते हैं : *बालक ने किताब पढ़ी, हितमित्रों से दबाव डलवाया गया* (कामता सिंह), यह किताब प्रेमचंद की लिखी है।

इस श्रेणी में सांकेतिक वास्तविव· व्यापार का कर्त्ता भी आता है जिसके विधेय के प्रकार्य में संकेतार्थ के पूर्ण एवं संतत रुप प्रयुक्त होते है : *यदि मैंने उसे घर से निकाल न दिया होता तो इस भॉति उसका पतन न होता* (प्रेमचंद), *अगर दूसरी कोई ट्रैन लखनऊ जा रही होती तो वह उसी दम लौट पड़ता* (अमृतलाल नागर)।

२. अनुमानित व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो प्रक्रियावाचक पुरुषवाचक-लिंगसूचक कृदंत से व्यक्त होता है : *बालक आएगा*। विधेय के प्रकार्य में यहां संयोजक क्रिया समेत स्थायी गुणवाचक कृदंत या परसर्गसहित तुमर्थ भी प्रयुक्त हो सकते हैं : *बालक जाने वाला है, बालक जाने को है*।

३. संभाव्य व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित नाम आता है जो पुरुषादिबोधक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आए तो कितना अच्छा होता*।

४. प्रेरणादायक व्यापार का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम (मुख्यत: सर्वनाम) आता है जो आज्ञार्थ के रुपों द्वारा व्यक्त होता है : *तुम जाओ*।

५. प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता

है जो संयोजक क्रिया सहित/रहित अपूर्ण कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक पढ़ता है, बालक नहीं सोता*। यहां लाक्षणिक प्रयोग के कृदंतरुप भी आते है : *घड़ी चलती है, बांसुरी बजती है*।

इस श्रेणी में सांकेतिक प्रक्रियात्मक अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के सरल और अपूर्ण कृदंतरुपों द्वारा व्यक्त होता है : *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मूझे क्यों मारता?* (रांगेय राघव)

६. परिणामी अवस्था का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो अकर्मक क्रियाओं से बने पूर्ण कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *बालक आया, बालक बोला*।

इस श्रेणी में सांकेतिक परिणामी अवस्था का कर्त्ता भी आता है जिसका विधेय संकेतार्थ के पूर्ण रुप द्वारा व्यक्त होता है : *मैं चला गया होता, मगर मुझे सावक की प्रतीक्षा थी* (मंटो)।

७. संप्रदानवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य द्वारा व्यक्त होता है : क) आवश्यकताबोधक द्विक्रियावाची: बालक को जाना पड़ा, ख) "*तुमर्थ + आना क्रिया*" द्विक्रियावाची : *बालक को तैरना आता है*, ग) संयोजक सहित मन : स्थिति अनुमानवाचक अर्थ रखने वाले विशेषण : *बालक को वहां जाना आवश्यक है*, घ) प्रभावन का अर्थ रखने वाले वाक्यगत उद्देश्य से संबंधित विधेय के प्रकार्य में प्रयुक्त *ह* (*होना*) क्रियारुप : *बालक को सेब पसंद है, बालक को यह जानकर खुशी हुई*, च) कुछ विशिष्ट अकर्मक क्रियाएं : *बालक को पत्र मिला, बालक को यह कपड़ा नहीं भाता*।

८. करणवाचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित से परसर्गसहित नाम आता है जो भाववाच्य कृदंत द्वारा व्यक्त होता है : *किसी से पानी नहीं पिया गया* (प्रेमचंद), *बालक से सोया नहीं जाता*।

९. स्वामित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित के पास, के यहां और के परसर्गो सहित नाम आता है जो *ह* (*होना*) स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक के पास दो कापियां हैं, सीता के एक बच्ची थी*।

१०. स्थानसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित में परसर्गसहित सजीव (प्राणिवाचक) नाम आता है जो *ह* (*होना*) स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *बालक में हिम्मत नहीं, जानवरों में तो सहज ज्ञान होता है*।

११. अस्तित्वसूचक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो *ह* (*होना*) स्थितिदर्शक क्रिया द्वारा व्यक्त होता है : *पिता जी घर में हैं, यहां बच्चों के लिए दूध भी नहीं है* (कृशन चंदर)। ऐसे वाक्यों में अनिवार्य संघटक के बतौर क्रियाविशेषक प्रयुक्त होते हैं।

१२. गुणधारी (गुणात्मक) कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक क्रिया सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है : *आमदनी अच्छी थी* (यशपाल), *परदा बोरी के टाट का नहीं, बढ़िया किस्म का रहता* (यशपाल), *डाक्टर खुदा तो नहीं है* (राजेंद्र यादव), *तुम कौन चार बरस की नहीं हो* (अश्क)।

१३. निश्चित मात्रा का कर्त्ता (मात्रात्मक कर्त्ता) जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित सांख्यांक द्वारा व्यक्त होता है : *बालक चार थे*।

१४. विशेषतादर्शक कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित संज्ञा द्वारा व्यक्त होता है : *बालक छात्र है, भेड़िया हिंसक पशु है, ताड़ सदाबहार पादप है*।

१५. सामाजिक या रिश्तेदार जैसे संबंधों का कर्त्ता जिसके प्रकार्य में उस विधेय से संबंधित परसर्गहीन नाम आता है जो संयोजक सहित नामिक अंग द्वारा व्यक्त होता है और नाम विशेष शब्दों द्वारा प्रकट होता है : *बालक मेरा भाई है, वे बालक हमारे रिश्तेदार हैं, राकेश बाबू इनका दोस्त है*।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, कर्त्तावाचक पदिमों की यह व्याख्या अन्य व्याकरणवेताओं द्वारा निर्धारित परंपरागत सीमाओं से बाहर जाती है जब कर्त्ता केवल परसर्गहीन रुपों या ने परसर्गसहित रुपों में परिसीमित होता था।

उल्लेखनीय है कि भारतीय वैयाकरण अंग्रेजी या रुसी वैज्ञानिकों के विपरीत कर्त्ता के प्रकार्य में प्रयुक्त शब्दरुपों का समूह विस्तृत करते हैं। गुरु जी ने कर्त्ता के निम्न रुपों का वर्णन किया है : *मुझे वहां जाना है, काजी को यह हुक्म देते बना, लडके से चला नहीं जाता*। किशोरीदास वाजपेयी भी कर्त्ता की इस व्याख्या का समर्थन करते हैं।

विधेय का वर्णन भी भिन्न दृष्टि से करना चाहिए क्योंकि निश्चयार्थ में इसके प्रकार्य में पुरुषादिबोधक रुप प्रयुक्त नहीं होते। अत: आसाहि में पुरुषवाचक क्रियाओं द्वारा व्यक्त विधेय प्रधान नहीं होता क्योंकि यहां विधेय मुख्यत: कृदंत या नाम के रुप में आता है : *बालक पढ़ता है, बालक छात्र है, बालक पढ़ेगा*। इस कारण वास्तविक व्यापार के कर्त्ता का प्रयोग काफी सीमित होता है और आसाहि में अन्य शब्दार्थ कोटियों के कर्त्ता अग्रणी स्थान लेते है।

संतत कृदंतो के चलते भी जिनको भाषायी प्रयोग के प्रभावस्वरुप उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार को व्यक्त करना होता है कर्त्ता (*कम से कम कालक्रमिक दृष्टि से*) परिणामी अवस्था का द्योतक होता है। (*वह*) जा रहा है का विधेय कालक्रमिक दृष्टि से निम्न अंगो में विभक्त होता है : *जाकर रहा है* यानी किसी विगत क्षण में जाना आरम्भ करके कोई जाना की स्थिति में होता है। *बाबू जी उस समय ऊपर कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे* (प्रेमचंद) जैसे वाक्य में विधेय का अर्थ यह है कि *बाबू जी* काल के क्षण से पहले पढ़ना आरंभ करके काली के क्षण में ही इसी स्थिति में है। कर्त्ता की इस परिणामी अवस्था को पूर्ण कृदंतरुप रहा इंगित करता है।

अत: आसाहि में विधेय का वर्गीकरण इसके अंगों की संरचनात्मक-अर्थपरक प्रकृति को देखकर करना चाहिए।

भारत की व्याकरणिक परंपरा से सहारा लेकर विधेय चार भेदों में विभक्त हो सकता है : १) तिङन्ती, २) कृदंती, ३) तिङन्ती (कृदंती-तिङन्ती) और ४) नामिक जिनमें कृदंती विधेय मुख्य है। भारतीय वैयाकरणों

के मतानुसार तिङन्ती रुप साध्य है, कृदंती रुप वास्तविक हैं और तिङन्ती-कृदंती रुप भी मुख्यतः वास्तविक हैं। इन सब रुपों का वृत्तित्व संयोजक क्रिया से प्रतिबंधित होता है।

संभावनार्थ के संश्लिष्ट रुप और आज्ञार्थ के रुप शुद्ध तिङन्ती हैं। भविष्यत् काल के संश्लिष्ट रुप जो संभावनार्थ के संश्ष्टि रुपों से ग मध्यप्रत्यय और लिंगसूचक अंत प्रत्यय जूड़ने से बनते हैं किशोरीदास वाजपेयी के मतानुसार संभावनार्थ की तुलना में अधिक निश्चितता व्यक्त करते हैं। तिस पर भी भविषयत् काल के रुप सप्रतिबंध वास्तविक व्यापार व्यक्त करते है।

आसाहि में संरचना के अनुसार विधेय तीन श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं : *सरल, संयुक्त और जटिल*।

पहली श्रेणी में ऐसे विधेय आते हैं जो संयोजक क्रिया सहित/रहित एक ही क्रियार्थक या नामिक अंग से बने होते है। दूसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो दो या अधिक क्रियार्थक या नामिक अंगों से बने होते हैं और जो स्थायी अर्थपरक-वाक्यगत इकाई गठित करते हैं। तीसरी श्रेणी में वे विधेय आते हैं जो स्वतंत्र या स्थायी शब्दबंधो (क्रियाबंधों) से बने होते है।

एक लेख में आसाहि में मिलने वाले विधेयों के सभी रुपों का विस्तृत वर्णन करना संभव नहीं है, अतः यहां सब से अधिक प्रचलित रुपों की व्याख्या की गयी है।

सरल विधेय निम्न उपश्रेणियों में बंट सकते हैं :

१) तिङन्ती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *मैं आऊं*, ख) तिङन्ती-कृदंती : *मैं जाऊंगा (जाऊंगी)*।

२. कृदंती जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध कृदंती : *वह आया, अगर वह आता ...., उसने कहा* और ख) कृदंती-संयोजक : *वह आता है, वह आया (हुआ)* था, *वह चाय पीता होता है, उसने खिड़की खोली (हुई) थी, ... जिसकी मूर्त्ति का वचन दल ने ..... जनता को दिया हुआ होता है* (बी.बी. चौधरी), *इस तरह लौट आऊंगा जैसे कुछ भी न हुआ हो* (राजेंद्र यादव), *तुमने बीस-एक पूरियां खायी होंगी* (प्रेमचंद), *तू मुझे मन से न चाहता होता, तो तू मुझे मारता क्यों?* (रांगेय राघव)।

३) नामिक जिनके भी अपने भेद हैं : क) शुद्ध नामिक : *आसमान साफ, खुला और नीला...* (कृशन चंदर) और ख) नामिक-संयोजक : *तू कपूत है* (मोहन राकेश), *दर्शकों की भीड़ भी कम न थी* (जयशंकर प्रसाद), *प्रतिवर्ष कृषि का वह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता है* (जयशंकर प्रसाद)।

सरल कृदंती विधेय में कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रुप भी आते हैं जो पूर्ण कृदंत तथा जाना अर्थहीन क्रिया के रुपों के योग से बनते हैं : *मधुलिका बुलायी गयी* (जयशंकर प्रसाद), *मेरा सुख भगवान् से न देखा न गया* (प्रेमचंद), *मैं बुलाया गया हूं*। यहां पूर्ण कृदंत के स्थान पर पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत का प्रयोग भी हो सकता है : *वह..... फरिया पहने थी* (रांगेय राघव)।

अर्थ की दृष्टि से इस श्रेणी में संतत कृदंत के विधेय क्रियारुप भी आते हैं जो कालक्रमिक दृष्टि से अवधारण पक्ष के आधार पर उत्पन्न हुए थे तुलना कीजिये : *वह बैठ रही है* और (वह) *अज्ञात देवता के आगे ..रही* (मोहन राकेश)। और जो अर्थ और संरचना को लेकर इस पक्ष से संबंध रखते हैं। परन्तु संतत कृदंत की इस क्षमता को ध्यान में रखते हुए कि यह कृदंत प्राकारिक कृदंतो की भाँति विशेषण के प्रकार्य में आ सकता है इसे सरल विधेय की श्रेणी में सम्मिलित करना उचित जान पड़ता है। इस कृदंत के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि अर्थपरक तथा व्याकरणिक दृष्टि से इसके अर्थविकार की प्रक्रिया जारी रहती है और अब वह मुख्यत: उक्ति के क्षण में होने वाले व्यापार का अर्थ व्यक्त करता है। ऐसे में वह अपूर्ण कृदंत से भिन्न होता है क्योंकि अपूर्ण कृदंत दो प्रकार का व्यापार प्रकट करता है : उक्ति के क्षण में होने वाला और नियमित रुप से होने वाला व्यापार (*बालक स्कूल में जाता है का अर्थ है अब ही जा रहा है और नियमित तौर पर जाता है।*)

"नाम + होना क्रिया" का वह अखंड क्रियाबंध भी सरल विधेय में आता है जिसके शाब्दिक पूरक के प्रकार्य में व्याकरणिक लक्षणों रहित (यानी विव्याकरणिकीकृत) संज्ञा प्रयुक्त होती है : *पाठ शुरु हुआ*।

संयुक्त विधेय कृदंती-तिङन्ती, नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है। कृदंती-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनका शब्दार्थ अंग कृदंत द्वारा और व्याकरणिक अंग पुरुषवाचक या पुरुषवाचक-लिंगसूचक क्रियारुप द्वारा व्यक्त होता है : *जयचंद्र जी ने परामर्श दिया कि मैं ...हथियारों का संग्रह बढ़ाता चलूं* (यशपाल), *...जिन्दगी भर मैं तुम्हारे लिए रोती रहूंगी* (कृशन चंदर), (यशपाल)।

नामिक-तिङन्ती संयुक्त विधेय में वे "नाम + होना क्रिया" अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनके व्यापार के शाब्दिक पूरक विव्याकरणिकीकृत संज्ञाओं द्वारा व्यक्त होते हैं और करना क्रिया तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप में प्रयुक्त होती है : *उसने कहा कि मैं सभा शुरु करुं, मैं आपकी बातें याद करुंगी*।

नामिक-कृदंती संयुक्त विधेय में उपरोक्त अखंड क्रियाबंध आते हैं जिनमें करना क्रिया (संयोजक सहित/रहित) कृदंत रुप में प्रयुक्त होती है : *मैंने पाठ शुरु किया, उसने अपनी भूल स्वीकार की थी*।

कृदंती-कृदंती संयुक्त विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी मुख्य रंजक क्रियाएं (संयोजक सहित/रहित) कृदंतरुप में प्रयुक्त होती हैं : *वह दिन भर रोती रही, पानी बढ़ता जाता है*।

संयुक्त विधेय में वे "क्रियार्थक नाम + रंजक क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो पौनः पुनिक पक्ष का अर्थ व्यक्त करती हैं : *वह हमारे यहां आया करती है*। रंजक क्रिया कृदंती या तिङन्ती रुपों में आ सकती है : *हमारे यहां आया करो*। जैसा कि उदाहरणों से विदित है क्रियार्थक नाम पूर्ण कृदंत का अविकारी (स्थिर) समरुप है।

संयुक्त विधेय में "धातुरुपी कृदंत + करना क्रिया" द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जिनकी रंजक क्रिया (पक्षवाचक या वृत्तिवाचक) तिङन्ती या कृदंती रुपों में प्रयुक्त हो सकती हैं : *तुम चाहती हो कि मैं मर जाऊं*

(कृशन चंदर), *मैंने अपने दोस्त को एक किताब खरीद दी, आप हिन्दी में बोल सकते हैं?, पुलिस चोर को पकड़ न पायी।*

संयुक्त विधेय में आवश्यकताबोधक संप्रदान वाचक रचनाएं आती हैं जो कृदंतपर (विकारी) तुमर्थ और ह (होना) एवं पड़ना के क्रियारुपों और क्रियार्थक शब्द चाहिए के योग से बनती है : *बालक को जाना है (जाना पड़ा, जाना चाहिए)।*

द्विक्रियावाची रचनाओं और अखंड क्रियाबंधों में रंजक तथा सहायक (रुपसृजक) क्रियाएं न केवल सरल विधेय के रुप में आती हैं बल्कि वे वृत्तिवाचक एवं पक्षवाचक सूचको के साथ जुटकर वृहद् संयुक्त विधेय बनाती हैं : *मैं सभा शुरु कर सकुं?, मैंने अपनी भूल स्वीकार कर ली, वह...बही चली जा रही होगी* (रांगेय राघव)।

निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध (यानी पूर्णतः विव्याकरणिकीकृत नाम सहित क्रियाबंध) और द्विक्रियावाची वृत्तिवाचक या पक्षवाचक रचनाएं संयुक्त विधेय में इसलिए सम्मिलित की जा सकती हैं कि वे रचना के दो केंद्रो (शाब्दिक और व्याकरणिक) के बावजूद स्वतंत्र क्रियाप्रधान शब्दबंध को नहीं बनाती क्योंकि वे एक ही एकीकृत वस्तुवाचक अर्थ रखती हैं और एक ही विचार या धारणा व्यक्त करती हैं। अर्थ की दृष्टि से वे स्पष्टतः दो या अधिक अंगों से बनी होती हैं। साथ ही संजक रंजक या सहायक क्रियाएं प्रायः सदा ही अपना वस्तुपरक अर्थ, जो बचा-खुचा भी हो सकता हैं, सुरक्षित रखती है। अपवाद के तौर पर यहां जाना रंजक क्रिया आती है जो कुछ रचनाओं में अपना वस्तुपरक अर्थ पूर्णतः खासेकर व्यापार के समापन के शुद्ध सूचक के प्रकार्य में प्रयुक्त होती हैं : *हम आ गये, मुझे किताब मिल गयी।*

जटिल विधेय भी नामिक-तिङन्ती, नामिक-कृदंती, तिङन्ती-तिङन्ती, तिङन्ती-कृदंती और कृदंती-कृदंती में विभक्त होता है।

नामिक-तिङन्ती जटिल विधेय में "विशेषण (क्रियाविशेषण) + करना क्रिया" वाक्यविन्यासोत्तर रचनाएं आती हैं जिनमें विशेषण (क्रियाविशेषण) उस व्यापार के शाब्दिक पूरक बन जाते हैं जो करना क्रिया के पुरुषादिबोधक रुपों द्वारा प्रकट होता है : *बिस्तर गोल कर दो* (मंटो), *मैं फिर खुदा से दुआ करती हूं कि वह हमारे दिलों को अपनी रोशनी करे* (प्रेमचंद), *यह सूटकेस पीछे करो।*

नामिक-कृदंती जटिल विधेय उपरोक्त वाक्यविन्यासोत्तर रचनाओं के आधार पर बनता है जिनमें करना क्रिया संयोजक सहित/रहित कृदंतरुप में आती हैं : *बालों को उसने पीछे किया* (जैनंद्र कुमार), *संविधान ने संघात्मक शासन स्थापित किया* (बाबूलाल वर्मा)। करना क्रिया दो विशेषणों द्वारा विस्तृत हो सकती है : संसद ने युद्ध को अवैध घोषित किया।

करना क्रिया के अतिरिक्त *बनना, रहना, पड़ना, निकलना, दीखना* और कुछ दूसरी अर्द्धसंयोजक क्रियाएं इस प्रकार का जटिल विधेय गठित करती हैं : *महेंद्र पत्नी का गुलाम बना है* (गुरुदत्त), *परन्तु वह तो निर्लज्ज निकला है* (गुरुदत्त), *वह सदा चुप रहेगी, वह प्रसन्न दीखता है, तुम मुझे अच्छा आदमी दिखाई देते*

हो।

आदि-अंतसूचक, वृत्तिवाचक तथा कुछ दूसरी क्रियाओं के साथ, जो अपना अर्थ सुरक्षित रखती हैं, तुमर्थ या सुपाइन के योग के आधार पर जटिल विधेय बनता है जिसका तिङन्ती-तिङन्ती या तिङन्ती-कृदंती रुप इन क्रियाओं के समापक रुप पर निर्भर होता है।

आदि-अंतसूचक क्रियाओं में व्यापार के आरंभ या अंत को सूचित करने वाली क्रियाएं और निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं, जैसे क) तिङन्ती-तिङन्ती विधेय: *चिल्लाना खत्म कर दो, पढ़ना शुरु करुं?*, ख) तिङन्ती-कृदंती विधेय : *उसने सिगरेट पीना छोड़ दिया, लड़की खाने लगी, फल गिरने शुरु हुए*। जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां संज्ञापरक तथा कृदंतपरक तुमर्थ आ सकता है।

वृत्तिवाचक क्रियाओं में *चाहना, मांगना, जानना, पाना, देना, सीखना, सिखाना* जैसी क्रियाएं और *स्वीकार करना, तय करना* जैसे निरपेक्ष अखंड क्रियाबंध काफी प्रचलित होते हैं जो निम्न विधेय गठित करते हैं : क) तिङन्ती-तिङन्ती : *हम वहां कल सुबह को जाना चाहेंगे, मैं वहां जाना स्वीकार करुं या न करुं, इससे कुछ नहीं बदलेगा, मुझे पत्र लिखना न भूलना*, ख) तिङन्ती-कृदंती : *उसने मुझसे बातें करनी नहीं चाही, तुफान के कारण मैं घर से निकलने न पाया, तुम तैरना जानती हो, हमने वहां जाना स्वीकार किया, दोपहर होने को आयी* (प्रेमचंद)।

जैसा कि उदाहरणों से विदित है, यहां आश्रित अंग (संघटक) की हैसियत से संज्ञापरक एवं कृदंतपरक तुमर्थ तथा सुपाइन आ सकते हैं। संज्ञापरक तुमर्थ परसर्गसहित प्रयुक्त हो सकता हैं। यही नहीं, तुमर्थ पक्षवाचक द्विक्रियावाची रचना में विस्तृत हो सकता है : *सेठ जी उसे खिलाते जाना चाहता था* (अश्क), *मैं सड़क पर चलते रहना चाहता हूं* (प्रेमचंद)। मुख्य क्रिया भी विस्तृत हो सकती है : *उसे सुरक्षित लौटने दिया जा सकता है* (चतुरसेन शास्त्री)।

तिङन्ती-तिङन्ती जटिल विधेय सुपाइन और जा रहा वेत्तिवाचक क्रियारुप के योग से बनता है : *यहां दावत कल होने जा रही थी* (शानी), *वह कुछ बोलने जा रहा होगा*।

तिङन्ती-तिङन्ती और तिङन्ती-कृदंती जटिल विधेय में और को परसर्गो सहित देखना एवं सुनना के विकारी तुमर्थरुपों और और आना एवं मिलना के समापक क्रियारुपों क योग से बनता है। आना और मिलना के समापक रुप यहां वृत्तिवाचक अर्थ रखते हैं : *यह बात सुनने में आयी, यह नृत्य वर्तमान में देखने को मिल रहा है* (हिन्दुस्तान)।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय द्विक्रियावाची रचना के आधार पर बनता है। इसका बायें (मुख्य शाब्दिक) अंग के प्रकार्य में अपूर्ण एवं पूर्ण कृदंत आते हैं। रचना का दायां (समापक) अंग भी मुख्यत: कृदंत के रुप में प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार का जटिल विधेय उपरोक्त कृदंतों और वृत्तिवाचक छाया देने वाली लगना, दिखाई देना

(पड़ना), *दीखना, नजर आना* तथा अन्य इस प्रकार की क्रियाओं और *अनुभव (महसूस)* करना (*होना*) जैसे क्रियाबंधो के योग से बनता है : *मेरी जिम्मेदारी खत्म नहीं होती लगती है* (पहाड़ी), *बांके आया लगता है* (रांगेय राघव), *लाला साहब पक्के कृषक होते दिखाई देते हैं* (प्रेमचंद), सरनो अपने शरीर से गरमी सी निकलती अनुभव हो रही थी (बलवंत सिंह), *सूर्य उदय हुआ मालूम होता था* (प्रेमचंद)।

इस जटिल विधेय से दिखने में समरुप रचनाओं को भिन्न करना आवश्यक है जिनमें दिखाई देना, नजर आना क्रियाएं, देखने में आना के अर्थ में प्रयुक्त होती हैं : उदाहरणार्थ, नन्दालाल की मां बाहर से आती दिखाई दी जैसे वाक्यों में सरल या संयुक्त विधेय ही आता है जो कृदंत से विस्तृत है। यह कृदंत विधेय से अलग प्रयुक्त हो सकता है : *बाहर से आती नन्दालाल की मां दिखाई दी*। जटिल विधेय का कृदंत अंग अलग नहीं आ सकता। यही नहीं, जटिल विधेय के आधार पर दो वाक्य बन सकते हैं : लगता है (*कि*) बांके आया।

इस प्रकार का जटिल विधेय अपूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत और *डरना, झेंपना, शर्माना, थकना* तथा कुछ और भावात्मक व्यापार व्यक्त करने वाली क्रियाओं के योग से भी बनता है : *सदन उसके सामने उसके सामने पुस्तक खोलते डरता है* (प्रेमचंद), *वह ऐसी छोटी भेंट देते हुए झेंपता था* (प्रेमचंद), *मैं यह रटते-रटते थक गया*।

ऐसी ही जटिल विधेय उपरोक्त कृदंत और बचना क्रिया के योग से बनता है जिसमें बचना क्रिया सूचित करती है कि व्यापार सम्पन्न होते होते समाप्त न हो पाया : *मैं गिरते गिरते बचा*।

कृदंती-कृदंती जटिल विधेय में वे द्विक्रियावाची रचनाएं आती हैं जो अपूर्ण कृदंत, पूर्ण क्रियाविशेषणात्मक कृदंत एवं पूर्वकालिक कृदंत और समापक क्रियारुपों के योग से बनती हैं। यह रहना क्रिया अपना वस्तुपरक अर्थ सुरक्षित रखते हुए पक्षवाचक और रंजक अर्थ भी व्यक्त करती है : मैं कॉपता रह गया, किरण देखती रह गयी (प्रेमचंद), *शंकरदत्त सहमकर रह गया* (शास्त्री), *मैं यह जाने बिना न रहूंगा*। यहां अपूर्ण कृदंत की जगह पूर्ण कृदंत आ सकता है : *उसकी आंखे फटी रह गयी*।

आसाहि में वाक्यगत संरचना की विशेषता यह है कि यहां तथाकथित अंशत: कर्त्ता और अंशंत: विधेय का प्रयोग होता है जो वाक्य में मिलता है जहां मुख्य कर्त्ता (उद्देश्य) के अतिरिक्त सहायक कर्त्ता या उद्देश्य आते हैं।

अंशत: कर्त्ता निम्न रुपों में प्रयुक्त हो सकता है :

१) परसर्गहीन प्रत्यक्ष रुप में जो वाक्य के कर्त्तावाचक उद्देश्य के रुप के समान हो सकता है : *हमने हिन्दी के रिकार्ड बजते सुने* (यशपाल जैन), *थोड़ी देर हुई लौटा हूं* (प्रेमचंद), *आज मुझे तेरा सुर बदला लगा हुआ लगता है* (रांगेय राघव), *...असेम्बली खुलते ही यह बिल पेश करुंगा* (प्रेमचंद), *लाश उठाते उठाते रात हो जाएगी* (राजेंद्र यादव)। जैसे कि उदाहरणों से विदित है, अंशत: विधेय अंशत: कर्त्ता के साथ या तो नियमानुसार समन्वित हो सकता है या अविकारी क्रियाविशेषणात्मक कृदंत के रुप में आ सकता है।

२) को, के, से परसर्गो समेत तिर्यक् रुपों में : *मां को गये छ: महीने के ऊपर हो गए हैं, जीजी को बुढ़ी कैलासी के साथ रहते हुए एक साल बीत गया* (प्रेमचंद), हम लोगो के उतरते उतरते एक रुसी सज्जन आ गए (यशपाल जैन), *बाप के मरते अपने यार को कहीं से उठा कर ले आयी है* (कृशन चंदर), *ब्रजनाथ से कोई जवाब देते न बन पड़ा* (प्रेमचंद), *साले और ससुर से जो भी करते बना उन्होंने किया* (बी.पी. गुप्ता)। जैसा कि उदाहरणों से विदित है, अंशत: विधेय यहां अविकारी कृदंत के रुप में आता है।

विस्तृत वाक्य के स्तर पर कर्त्ता और विधेय आश्रित विस्तारकों द्वारा विस्तृत हो सकते है जो एक स्वतंत्र विश्लेषण की बात है।

यही है आसाहि में कर्त्ता और विधेय की अभिव्यक्ति के प्रकार जो इनके अर्थपरकवाक्यगत अर्थ पर आधारित होता है।

जाम्भाणी साहित्य में परमतत्व की अवधारणा

डा0 किशनाराम विश्नोई

विश्नोई सम्प्रदाय के संस्थापक भगवान जम्भेश्वर जी की एक विशिष्ट और समृद्ध शिष्य-परम्परा रही है, जिनमें मुख्य रुप से वीलहोजी, केसौजी, सुरजन जी पुनिया, गोकल जी, ऊदौजी, सेवाराम, मुकनोजी, नाथोजी, रेड़ोजी, साहबराम राहड़ आदि हैं। उनकी कुल शिष्यों-प्रशिष्यों की संख्या १२९ है। जाम्भाणी साहितयकारों के अनेक हस्तलिखित ग्रंथ अप्रकाशित हैं। इन अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथो की संख्या लगभग ४०३ है। जो विभिन्न साथरियों, भण्डारों, मंदिरों, गायणों, थापनों एवं पुरातत्व विभाग के पास उपलब्ध हैं यदि इन सम्पूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों को एकत्रित करके उन पर अनुसंधान किया जाये तो भारतीय संत साहित्य का स्वरुप ही बदल जायेगा।

जाम्भाणी साहित्य में मानव मूल्यों की मीमांसा चहुंमुखी रुप से हुई है, जिनमें क्षमा, दया, धैर्य, अपरिग्रह, संतोष, शील, संयम, अहिंसा, परोपकार, नैतिकता, ईमानदारी, सादगी, सात्विकता, सच्चाई और परिवेश शुद्धता आदि मूल्यों का समावेश हुआ है। मानव मूल्यों के साथ ही जाम्भाणी साहित्यकारों ने परम तत्व (निर्गुण विष्णु) के नाम स्मरण (जप) पर अत्यधिक बल दिया है उन्होंने निर्गुण विष्णु को ही परमतत्व का प्रतीक माना है। सम्पूर्ण जाम्भाणी संत निर्गुण विष्णु और जम्भेश्वर जी को एक ही मानते हैं, यह उनकी साहित्य साधना का मूल सारतत्व है उनकी रचना प्रक्रिया और मूल्यान्वेषण और प्रतिष्ठा की विशिष्ट प्रक्रिया मानने वाले रचनाकारों और जाम्भाणी संतों की बीच मूल्य निर्धारण के सवाल पर तो मतभेद रहे ही हैं परन्तु परम तत्व के निर्धारण करते समय आपसी मतभेद परस्पर समाप्त हो जाते हैं। वे कौन से मूल्य हैं, जो चरम या परम मूल्यों में अन्तनिर्हित हैं। जिनकी साधारणतया साहित्य खोज करता है और इसमें चरम या परम मूल्य का सवाल भी शामिल है। जिनकी साहित्य तलाश या प्रतिष्ठा करता है। मूल्यों में उतार-चढ़ाव क्रम भी व अनुसंधान की सुविधा के लिए स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि अंतत परम मूल्य से तारतम्य ही किसी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के मूल्य को भी सिद्ध करता है। अर्थ और काम तभी मूल्य है जब वे धर्म से अनुप्राणित और मुक्ति प्राप्ति की ओर अग्रसर हो। धर्म भी मूल्य तभी है जब वह मोक्ष की साधना का माध्यम है। इसलिए चतुर्वर्ग के पुरुषार्थ के सिद्धांत को मानने वालों के लिए परमार्थ मोक्ष ही है। अन्य त्रिवर्ग यदि मूल्य है तो इसलिए कि वे मोक्ष की साधना में सहायक हैं। परमार्थ और व्यवहार में भेद तो है पर यह अपेक्षा की जाती है कि व्यवहार परमार्थ से अनुप्रेरित और उसकी ओर ले जाने वाला होगा- इसके विपरित दिशा में ले जाने वाला तो नहीं हो सकता।

साधारणतया जब चरम मूल्य या परमार्थ वृत्ति की चर्चा की जाती है तो मोक्ष या उससे मिलती-जुलती कोई आध्यात्मिक अवधाणा निर्वाण, कैवत्य आदि ही ध्यान में आती है। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं दर्शन

में इन गूढ़ प्रश्नों पर मतैक्य नहीं है। एक वर्ग उन भौतिकवादी दार्शनिकों का भी है जो उपर्युक्त प्रकार की किसी की अवधाणा को एक भ्रम या छलावा और कुछ लोग तो मीठा जहर तक मानते है। स्पष्ट है कि उनके लिए चरम मूल्य का अर्थ कुछ भिन्न ही होगा। इनमें से कोई स्वतंत्रता को चरम मूल्य के रुप में स्वीकार करतें हैं तो कोई समानता की। कुछ लोगों के लिए इन मूल्यों से भी ज्यादा महत्व इस बात का है कि इन साधनों के द्वारा इन मूल्यों की प्रतिष्ठा की जाती है। साधन और साध्य के एकत्व के सिद्धांत में आस्था रखने वालों के लिए साध्य मूल्य का साधन मूल्य में प्रतिफलित होना आवश्यक है। इसी तरह प्राकृतिक विज्ञानों को ही ज्ञान का अंतिम प्रमाण मानकर उनमें नीति-निरपेक्ष आशा रखने वालों के लिए शक्ति ही मूल्य है। संघर्षशील युग में शक्ति ही परम मूल्य है। तथा उस शक्ति के विभिन्न चरम मूल्यों का संग्रह ही आज के भौतिकवादी युग में बहुउपयोगी है।

इसी प्रकार अखिल भारतीय साहित्य की भाँति जाम्भाणी संत संस्कृति में किसी न किसी परम मूल्य की प्रतिष्ठा का अथक प्रयास किया गया है। प्रख्यात संत शिरोमणि साहबराम राहड़ ने अपनी विख्यात आख्यान काव्य जम्भसार में शब्द को ही ब्रह्म मानकर उसके द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति का सहजपथ बताया है। यह साधना न केवल अपने लिए बल्कि सम्पूर्ण लोक मानस के लिए संत सुरजनदास पुनिया भी युक्ति-युक्त जीवन पद्धति के लिए मुक्ति की अवधाणा को स्वीकार करते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में काव्य को ही सबसे बड़ा धर्मशास्त्र माना है। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन का मूल प्रतिपाद्य विषय आध्यात्मिकता ही है। लेकिन दूसरी ओर कुछ पाश्चात्य विचारक और भौतिकवादी लेखक साहित्य का केन्द्रीय सरोकार स्वतंत्रता को मानते हैं और निश्चय ही यह स्वतन्त्रता और आध्यात्मवादियों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की मुक्ति बिल्कुल अलग है। मार्क्सवादी लेखकों की दृष्टि में साहित्यसाधना का परममूल्य इतिहास ही है। और इसलिए उसकी सार्थकता वर्ग संघर्ष की धारा को तीव्र करने में सहायक है। एक निश्चित उद्देश्य विशेष का समर्थन करना है। इसी से राष्ट्रवादी, प्रगतिवादी, जनवादी या दलित साहित्य आदि विशेष रुप से प्रचलन में आते हैं।

वस्तुतः हम जानते हैं कि इन मूल्यों को लेकर रचनाकारों और दार्शनिकों में किसी प्रकार का मतैक्य नहीं है। हम कह सकते हैं कि वह संभव नहीं है। लेकिन आखिरकार साहित्य किसे परम मूल्य माने? कहा जा सकता है कि यह साहित्यकार विशेष पर निर्भर करता है कि वह अपनी रचना में किस परम मूल्य को प्रतिष्ठित करता है और हम पाते हैं कि भिन्न-भिन्न जाम्भाणी साहित्यकारों की दृष्टि भिन्न-भिन्न रही है और उसी के अनुसार उन्होंने साहित्य परस्पर विरोधी मूल्यों की प्रतिष्ठा का निरपेक्ष माध्यम मात्र है तो वह स्वयं मूल्यान्वेषण का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। तब अधिक से अधिक वह अन्यत्र सिद्ध मूल्यों को समाज के लिए अधिक ग्राह्य बनाने का साधन मात्र रह जाता है। स्पष्ट में कहें तो वह विद्या नहीं रहती, प्रचार की एक विधा हो जाती है।

इसलिए साहित्य यदि मूल्यान्वेषण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है तो उसके परम मूल्य की तलाश भी उससे

बाहर किसी अन्य दर्शन, राजनीति या विज्ञान या समाजशास्त्र में नहीं बल्कि उसके अन्दर ही करनी होगी- उसके अपने स्वरुप और प्रक्रिया में फिर इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि साहित्यकार विशेष की अपनी दृष्टि या विचारधारा क्या है? जाम्भाणी साहित्य-परम्परा में धार्मिक शिक्षा की एक सम्प्रेषण प्रक्रिया के रुप में देखते हुए उसको दो प्रकार के भागों में विभाजित कर दिया है। एक तो शाश्वत मूल्यों को ग्रहण करने और उनका जीवन में क्रियान्वित करने का उपदेश देता है। परन्तु उन सनातनी व शाश्वत मूल्यों को हम जीवन में कितना उतारते हैं यह तो हमें सोचना हैं। मात्र उपेदश देना तो बहुत सरल है परन्तु उन पर चलना अत्यन्त कठिन है। दूसरे वे मूल्य जो मानवता की भावना से प्रत्यक्ष सम्प्रेषण रखते हैं। मूल्य सम्प्रेषण के स्तर पर वही प्रभावी होते हैं जो रचनाकार की रचना-प्रक्रिया पर लागू होते हैं। इसलिए शाश्वत मूल्यों को ही वास्तविक मूल्यों के रुप में स्वीकारा जाए। वास्तविक मूल्य वह है जो रचना की अपनी प्रक्रिया से प्रसूत होते हैं। इसलिए एक ही विद्या के रुप में साहित्य द्वारा परम मूल्य की तलाश का सवाल किन्हीं अन्य जरुरतों या विधाओं से तो क्या साहित्यकार की अपनी दृष्टि तक से नहीं जुड़ा है वह जुड़ा है साहित्य के अपने स्वरुप और गुणों से।

साहित्य को लेकर की जाने वाली अनंत चर्चाओं में इस सामान्य कथन को निर्विवाद स्वीकृति मिलती है कि वह रचना है, सृजन है। यदि हम इस बहस में नहीं पड़े कि उसका प्राथमिक स्रोत वस्तु जगत में है या भावं जगत में। या कि सामाजिक दबाव से पैदा होता है या अपने ही पूर्व रुपों में उसका विकास होता है तब भी वह वहीं नहीं रहती, एक नया रुप बदल लेती है।

साहित्य और कला को देखने, परखने उनकी समीक्षा करने की एक विशेष पद्धति भी होती है जो उचित ही है। क्योंकि कला में देखना या जानना रचने से भिन्न नहीं है। साहित्य रचते हुए सृजन करते हुए उसको जानना है जाने हुए को रचना नहीं। तभी तो वह अन्वेषण है इसलिए भारतीय कला की दृष्टि में दिदृक्षा सिसृक्षा सहजात है बल्कि कह सकते हैं कि एक ही है। ग्रीक में कला के लिए "टैक्नी" शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसका मूल अर्थ जानने का तरीका है। आज हम इस शब्द का प्रयोग करने के तरीके के रुप में करते हैं। जानने की प्रक्रिया ही तो फिर करने की ओर कुछ आगे बढ़कर कहें तो होने की प्रक्रिया हो जाती है।

लेकिन वह क्या है जिसे साहित्य में जाना या रचा जाता है? वह क्या है जो साहित्य के माध्यम से अपने होने को संभव करता है? साहित्य और कलाओं को अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा गया है। जाम्भाणी साहित्य में प्रत्येक अनुभूति आत्मानुभूति और स्वानुभूति है तो अनुभूति की प्रत्येक अभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि साहित्य या कला में किसी भी अभिव्यक्ति रुप की सृजना मूलत: और अंतत: आत्म-सृजन है। लेखकीय चेतना विभिन्न रुपों में अपना ही सृजन करती है बल्कि कह सकते है कि इस आत्म सृजन के माध्यम से ही वह अपने को जान पाती है। साहित्य अनिवार्यत: रुप है, इसलिए कह सकते हैं कि उसके सभी रुप आत्म के ही रुप हैं। इसलिए साहित्य जाम्भाणी साहित्य नित नये रुपों की सृजन के माध्यम से एक सनातन या शाश्वत रुपातीत आत्म की पहचान के साधना हो जाता है।

यह मात्र लेखकीय साधना नहीं है। साहित्य रचना भी है, साथ ही संप्रेषण भी बल्कि रचनात्मक सम्प्रेषण क्योंकि साहित्य का गृहीता या पाठक आवश्यक तौर पर रचना को लेखक के मन्तव्य के अनुकूल ही ग्रहण नहीं करता। इस ग्रहण या उपार्जन प्रक्रिया में उस के अपने चित की सांझेदारी भी होती है। और उसका गुप्त या अन्तनिर्हित या वास्तविक प्रयोजन रचना के माध्यम से रचनाकार को नहीं बल्कि अपने को जानना होता है। इसलिए रचना, जो एक आत्मसर्जना या आत्माभिव्यक्ति है, गृहीता के लिए आत्मानुभूति में रुपांतरित हो जाती है। रचना के माध्यम से गृहीता अपनी ही एक नई अनुभूति संभव करता है। यही उनकी आत्मसर्जना है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रचना रुप ग्रहीता को उसके वास्तविक रुपातीत या शाश्वत आत्म के भिन्न-भिन्न रुपों से साक्षात्कार करवातें हैं। इसलिए रचना के घोषित उद्देश्य कुछ भी हो उसका वास्तविक प्रक्रियागत उद्देश्य आत्म सृजन के माध्यम से आत्म की अनुभूति है। कोई अध्यात्मवादी कह सकता है कि अनंत रुपों की सृष्टि के माध्यम से परम चेतना अंतत अपने होने की अनुभूति ही तो करती है। लेकिन जाम्भाणी आध्यात्मिक पदावली के प्रयोग से उत्पन्न आशंकाएं या आपत्तियों के निराकरण के लिए इसे दरकिनार कर सीधे यही पूछा जाना चाहिये कि क्या उपर्युक्त विश्लेषण साहित्य के परम मूल्य या परमार्थ को जानने में हमारी सहायता करता है? क्या है अंततः साहित्य का अपना परम मूल्य? जाम्भाणी साहित्य में ऐसे अनेक कथन या टिप्पणियां आयी हैं जो धर्मशास्त्र के कथनों और आगम-निगम से सर्वथा संगत रखती हैं। उसमें चाहे वेद हो या उपनिषद, गीता हो या महाभारत, रामायण हो या बाईबल, कुरान शरिफ हो या अवेस्ता, सभी ने किसी भी वस्तु का मूल ही उसके सारतत्व को ही स्वीकार किया है। साहित्य का मूल सिसृक्षा है और उसकी सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया सृजनात्मक है, इसलिए निर्विवाद रुप से कहा जा सकता है कि साहित्य की अपनी रचना-प्रक्रिया से प्रसूत परम मूल्य सृजनात्मकता है न केवल लेखकीय दृष्टि से बल्कि गृहीता के पक्ष से भी। इसलिए लेखक-पाठक का पाठ-पाठक संबंध मूलतः एक सृजनात्मक संबंध होने की वजह से सृजनात्मकता को ही परम मूल्य के रुप में प्रतिष्ठित करते हैं साहित्य की रचनात्मकता और सम्प्रेषणात्मक प्रक्रियाएं इसी सृजनात्मकता के विविध रुपों और आयामों का अन्वेषण है। और यही सृजनात्मकता है अपने होने की अनुभूति और उसके मूल स्रोत की निरन्तर तलाश। यह सृजनशील चेतना ही शाश्वत रुपातीत आत्मा है जो भिन्न-भिन्न रुपों मे निरन्तर अपने को अभिव्यक्त करता है तभी तो रचनाकार कह पाता है कि रुपों में एक अरुप सदा खिलता है, गोचर में एक अगोचर व्यक्त में एक अव्यक्त सता में एक परमसता, सत में एक असत विद्या में एक अविद्या।

लेकिन शाश्वत या रुपातीत जैसी पदावली फिर कुछ संशय या भ्रांति उत्पन्न कर सकती है कि इसमें इतिहास या समय का समन्वय नहीं बैठता है। निश्चय ही जब हम शाश्वत या रुपातीत जैसे पदों का प्रयोग करते हैं तो समय और रुप के अतिक्रमण का मंतव्य तो रहता है लेकिन समय या रुप का बहिष्कार नहीं है। यहा शाश्वत का अर्थ समय के बाहर नहीं है क्योंकि यदि शाश्वत है समय के भीतर भी है। समय के भीतर भी नहीं है। साहित्य और कलाओं की अपनी विशिष्टता है कि यहां नश्वरता के भीतर की अभिव्यक्ति होती है. रुप में

रुपातीत झलकता होता है। इसलिए शाश्वत आत्म की खोज में लगे साहित्य का इस नश्वर जीवन के साथ इस इतिहास और समय के साथ गहरा संबंध है क्योंकि यही उसकी रचना सामग्री है जिससे वह शाश्वत ओर रुपातीत को रुपायित करता है। साहित्य हिकमत है जो नश्वर जीवन को भी अपनी सृजनात्मकता से शाश्वत में रुपांतरित कर देता है। सच तो यह है कि समय के भीतर हो सकने पर ही इस सृजनात्मकता का शाश्वत होना, परम मूल्य होना सिद्ध होता है। इसलिए जिसे हम उत्कृष्ट या कलासिक्ल साहित्य कहते हैं उसमें इस नश्वर जीवन और उसकी विविध ध्वनियों के प्रति ही नहीं, उसकी दुर्बलताओं, आकांक्षाओं और असफलताओं के प्रति भी गहरा लगाव मिलता है। यह लगाव वस्तुत: दुर्बलताओं या असफलताओं के लिए नहीं होता। साहित्य में वर्णित दुर्बलताएं या असफलताएं भी प्रकारांतर से अंतत मानवी य सृजनशीलता के प्रति हमारे लगाव को ही उत्प्रेरित करती हैं जैसे दुखांति का अच्छे का पराभव बताते हुए भी अंततः अच्छे के प्रति हम में एक सहानुभूति पैदा करती है इसलिए साहित्य की घोषित विषय वस्तु या मूल्य कुछ भी हो, उसकी वास्तविकता या गुरुतत्व वस्तु अथवा मूल्य उसकी प्रक्रिया में ही अन्वेषित और प्रतिष्ठित होता है। वही उसका परम मूल्य या परमतत्व है और उसके सभी घोषित मूल्य उच्चावच क्रम में उस से न केवल हीन रहते हैं बल्कि वास्तविक अर्थो में साहित्य को प्रस्तुत मूल्य होने की हैसियत भी तभी प्राप्त करते हैं जब वे इस परमार्थ से, परम मूल्य से प्रेरित और उसकी सिद्धि के लिए उन्मुख हो।

लेकिन जब हम सृजनात्मकता की चरम मूल्य के रुप में बात करते हैं, तो उसके सहजात गुणों स्वतंत्रता और अहं के प्रति लिए विलयन की भी अनदेखी नहीं की जा सकती।

व्याख्याता,
गुरु जम्भेश्वर महाराज,
धार्मिक अध्ययन संस्थान, हिसार

योगदर्शन के व्यासभाष्य में पुरुष तथा पुरुषविशेष का स्थान

डा0 सूनृता विद्यालंकार

पुरुष का निरुपण

योगशास्त्र के मुख्यत: दो ही प्रमेय हैं जड़ प्रकृति एवं चेतन पुरुष। पुरुष निर्गुण, विवेकी, असाधारण, चेतन एवं अपरिणामी तत्व है। वह न प्रकृति है न विकृति, कार्य कारण से रहित है। इन्हीं सभी गुणों से विभूषित तत्व को योगशास्त्र में 'पुरुष' का नाम दिया गया है। यह पुरुष शुद्ध, बुद्ध, एवं मुक्त है। न्याय दर्शन की भांति ज्ञानादि का आश्रय नहीं है अपितु स्वरुप भूतात्मक ही है। इतना सब होते हुए भी पुरुष अज्ञानवशात् इस संसार में आकर, अहंकार के वशीभूत होकर, चित्त के ज्ञानादि धर्मों का अपने में आरोपण करके भोक्ता कहलाता है। जन्म जन्मांतर में इसी अहंभाव के वश में होकर जन्म एवं मृत्यु के चक्र में फंस जाता है।

आत्मा का स्वरुप निर्धारण करने से पूर्व इस आत्म तत्व को मानने में क्या युक्ति है? इस पर कुछ गम्भीरता से विचार करना अत्यावश्यक है। चित्त ही जब ज्ञान सुखेच्छादि का आश्रय है तब वही भोक्ता एवं कर्त्ता क्यों नहीं मान लिया जाए? तथा अपरिणामी पुरुष को मानने में क्या युक्ति? इन प्रश्नों का उत्तर सूत्रकार एवं भाष्यकार ने बड़ी गम्भीरता से मनन चिन्तन के बाद दिया है तथा क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन कर, पुरुषतत्त्व की चितादि निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध की है।

पुरुषतत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता

सर्वप्रथम चित्त एवं पुरुष को एक मानने में यह कठिनाई उपस्थित होती है कि चित्त परिणामशील है उसका वृत्यात्मक परिणाम निरन्तर जारी रहता है। चित्त परिणामी है इसमें क्या प्रमाण हो सकता है? इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि चित्त के सामने विषय उपस्थित होने पर कभी ज्ञात रहता है और कभी अज्ञात। जब चित्त का विषयाकारेण परिणाम होता है तब वस्तु ज्ञात होती है और जब परिणाम नहीं होता है तब वस्तु अज्ञात रहेगी। इससे सिद्ध हो गया कि चित्त का परिणाम है। इसी परिणामशील स्वभाव के कारण वस्तु कभी ज्ञात एवं कभी अज्ञात रहती है।[1]

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक उदाहरण उपस्थित किया है[2] कि विषय अयस्कान्तमणि के सदृश होते हैं। ये विषय लोहे के समान चित्त को अपनी तरफ खींचकर अपने आकार से आकारित कर देते हैं। इसी विषयकारता को ही चित्त का 'उपराग' कहा जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने उपर्युक्त उदाहरण द्वारा यह सिद्ध किया कि चित्त विष्याकारेण परिणमित होता रहता है।

इसके विपरीत विषयोपरक्त चित्त पुरुष का विषय होता है। चित्त की वृत्तियां स्वामी पुरुष को सदा ज्ञात रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष अपरिणामी है। चित्तवृत्ति पुरुष को कभी अज्ञात नहीं रहती क्योंकि जब कभी चित्त की वृत्ति होगी उसका प्रतिबिम्ब पुरुष पर अवश्यमेव पड़ेगा। उसे कभी यह सन्देह नहीं होता कि हम सुखी हैं अथवा नहीं। यदि सुखाकार चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ेगा तो वह अवश्य ही सुख

का उपभोग करेगा। चित्तवृत्ति के सदा ज्ञात रहने के कारण पुरुष का अपरिणामित्व सिद्ध है।[3]

भाष्यकार ने पुन: बौद्ध मतावलम्बियों की इस आशंका को रखा है[4] जोकि चित्त को ही आत्मा मानते है और स्वीकार करते हैं कि चित्त अपने को तथा विषय की अग्नि के समान प्रकाशित करता है। उसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि वह चित्त दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है।[5] जैसे दूसरी इन्द्रियां और शब्दादि विषय दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है उसी तरह मन भी स्वयं प्रकाश नहीं है। ऐसा समझना चाहिए।[6]

इस तर्क में दिए अग्नि के दृष्टांत को अयुक्त ठहराकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि अग्नि प्रज्वलित हो रही हो और वह अपने रुप को प्रकाशित न करें, वह तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि अपने अप्रकाशरुप को प्रकाशित नहीं करती,[7] वह तो स्वयं प्रकाश है। इसके विपरीत मन अपनी वृत्ति को बताते हुए कभी अपने को प्रकाशित करता है कभी नहीं। उदाहणार्थ- 'अहं सुखी' इस ज्ञान में अपना प्रकाश कर रहा है किन्तु 'अयं घट:' इस ज्ञान में अपने को प्रकाशित नहीं कर रहा है। परन्तु अग्नि तो सर्वदा अपने को प्रकाशित करती है। अत: अग्नि का दृष्टांत उपयुक्त नहीं है ऐसा भाष्यकार का मत है।

द्वितीय प्रश्न यह है कि आखिर प्रकाश का मतलब क्या है? यह प्रकाश प्रकाश्य-घट तथा प्रकाश-प्रदीप के संयोग से होता है। अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति के पूछने पर कि घट प्रकाश कब होता है? जब घट और प्रदीप का संयोग होता है किन्तु अग्नि के प्रकाश में किस प्रकाशक का संयोग होना चाहिए क्योंकि अग्नि को किसी प्रकाशक की आवश्कता नहीं, वह तो स्वयमेव अपने को प्रकाशित करता है। एक पदार्थ में संयोग नहीं देखा गया। संयोग द्विष्ठ पदार्थ है अत: दो में रहता है। अपने ही स्वरुप में अपने ही का संयोग होना सम्भव नहीं।[8] इससे सिद्ध होता है कि चित्त जड़ होने से स्वयं प्रकाशक नहीं है। जिस प्रकार नैय्यायिकों का यह विचार व्यर्थ है कि आकाश आत्म प्रतिष्ठ है पर प्रतिष्ठ नहीं। चित्त को अपनी इस वृत्ति के प्रकाश में पुरुष के चैतन्य अंश की आवश्यकता पड़ती है। वह दृश्य होने से चैतन्य कोटि में नहीं आ सकता।

यदि 'स्वाभास चित्त है' इस शब्द का अर्थ यह लिया जाय कि चित्त किसी अन्य से आग्राह्य ही है। अत: चित्त अपना विषय आप न होने से कर्मकर्तृ विरोध की सम्भावना मिट जाती है। परन्तु तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त किसी का भी विषय न होगा तो इसका ज्ञान किसी के द्वारा न होने से चित्त विषयक ज्ञानपूर्वक जो प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है सो नहीं देखी जानी चाहिए परन्तु देखी तो जाती है? अत: चित्त विषय है अविषयी नहीं। भाव यह है कि, तार्किक आदि के मत में यह नियम है कि प्रथम क्षण में द्रव्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है, द्वितीय क्षण में वह क्रियावाला होता है और तृतीय क्षण में किसी कार्य को करने से वह कारक बनता है परन्तु बौद्धमत में यह नियम नहीं। क्योंकि उनके मत में पदार्थ क्षणिक होने के कारण भिन्न-भिन्न क्षण में उसका अस्तित्व असंगता है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है। अत: चित्त की जो उत्पत्ति वही क्रिया और वही कारक है तो विषय और अपना प्रकाशक अन्य क्रिया न होने के कारण उसको विषयाभास और स्वभाव मानना स्पष्ट ही विरुद्ध है। अत: यह चित्त पुरुष से ही ज्ञात है। क्योंकि पुरुष के चित्त

में क्रोधादि वृत्ति के ज्ञान होने से लौकिक मानवों की क्रोधादिनिवृत्ति के लिए प्रवृत्ति दिखायी देती है। मैं क्रुद्ध हूं, मैं भयभीत हूं, इसमें राग है, तथा इसमें द्वेष है इस प्रकार ज्ञान का आकार होता है। यह ज्ञान चित्त को विषय मानने से उत्पन्न नहीं होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त पुरुष का दृश्य पड़ता है तथा उस दृश्य को देखने वाला दृष्टा पुरुष है। अत: पुरुष एवं चित्त दोनों भिन्न स्वरुपवान् होने से दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

दूसरी युक्ति यह भी दी जा सकती है कि यदि चित्त ही द्रष्टा मान लिया जाय तो एक समय में चित्त अपने एवं घटपटादि विषय को प्रकाशित नहीं कर पाएगा।[९] क्योंकि एक क्षण में एक ही वृत्ति सम्भव हैं। एक ही समय घटाकार एवं घटाकारवृत्ति होना असम्भव है। वैसे ही एक ही समय में विषयाकार और स्वीकार वृत्ति का होना भी असम्भव है। दो वृत्तियां एक साथ नहीं हो सकती।

पुन: बौद्धवादी कहते है कि चित्त अपना प्रकाशक आप होने पर ता 'आत्माश्रय' दोष दिया ही गया है यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय और द्वितीय चित्त का प्रकाशक तृतीय हो, ऐसा मान लिया जाय तब विषय एवं चित्त दोनों का ज्ञान हो जाएगा। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने देते हुए कहा है[१०] कि यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षण में चित्त बदलता रहता है अर्थात् एकचित ने एक विषय ग्रहण किया और इस विषय सहित चित्त को दूसरे चित्त ने। इसी प्रकार उसको तीसरे को चौथे ने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा- कभी समाप्त नहीं हो सकेगा, इसमें 'अनवस्थारुप' दोष की प्रसक्ति होगी। द्वितीय दोष 'स्मृतिसंकाररुप' है। स्मृतिसंकाररुप दोष का स्पष्टीकरण भाष्यकार ने इस प्रकार किया है कि विषय के अनुभवकाल में जब अनुभवात्मक 'घटमहनुभवामि' इस प्रकार का एक ही ज्ञान माना जाता है तब इस ज्ञानजन्य संस्कार द्वारा 'घटमहं स्मरामि' इस प्रकार की एक ही स्मृति उत्पन्न होती है। क्योंकि अनुभवानुसार स्मृति का होना सर्वमत संमत है। और पूर्वोक्तरीति से जब एक ज्ञान (चित्त) का प्रकाशक दूसरा ज्ञान और दूसरे का प्रकाशक तीसरा इत्यादि ज्ञानधारा मानेंगे तब 'घटमहमनुभवामि' 'घटज्ञानमहमनुभवामि' घटज्ञानज्ञानमहमनुभवामि अर्थात् मैं घट का अनुभव करता हूं, मैं घट को ज्ञान को अनुभव करता हूं, मैं घट के ज्ञान के ज्ञान को अनुभव करता हूं इस प्रकार के अनुभव की धारा चालू होने पर इस अनुभवजन्य संस्कार द्वारा 'घटं स्मरामि' 'घटज्ञानं स्मरामि घटज्ञान ज्ञानं स्मरामि' में घट को स्मरण करता हूं। इस प्रकार के असंख्य स्मृति ज्ञान की धारा चालू होगी। इस प्रकार की असंख्य स्मृतियों की धारा प्रवाहित होने पर यह विवेक नहीं हो पाएगा कि अनुभवजन्य कौन स्मृति है? अत: अन्य स्मृति के स्थान पर अन्य स्मृति समझी जाएगी। इस प्रकार का स्मृतियों का ठीक-ठीक तरह ज्ञान न होना भी स्मृतिसंकररुप दोष कहा जाता है, जो सर्वानुभव विरुद्ध है। अत: ज्ञान का प्रकाशक ज्ञान नहीं, किन्तु साक्षी रुप आत्मा ही ज्ञान का प्रकाशक है। भाष्यकार ने ठीक ही कहा हे[११] कि बुद्धि के साक्षी पुरुष का अपलाप करने वाले वैनाशिकों ने सब ही धर्म, अधर्म, बन्ध, मोक्षादि की व्यवस्था को असंगत कर दिया है।

क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना

इसके अतिरिक्त अन्य जिन-जिन विज्ञानवादी तथा शून्यवादी आदि वैनाशिकों ने जो आत्मा के स्वरुप की अपने तर्कों द्वारा कल्पना की है सब न्याय संगत नहीं है। भाष्यकार विज्ञानवादी यौगाचार-मतावलम्बी बौद्ध लोगों का मत देख कर उनका खण्डन करते है[१२] कि कोई क्षणिक विज्ञानबादी चित्तमात्र को आत्मतत्व की कल्पना करके तथा क्षणिक मानकर भी, वह सत्वमात्र आत्मतत्व स्थिर है, जो सांसारिक तथा मलिन-पंचस्कन्धों [१३] को त्यागकर मुक्तावस्था में अन्य शुद्ध पंचस्कन्धों को अनुभव करता है, ऐसा कहकर पुनः भयभीत होते है। अभिप्राय यह है कि प्रथम संसारकाल में क्षणिक विज्ञानरुप बुद्धि को आत्मा मानकर मोक्षकाल में उसी को स्थायी मानने से 'स्वमत विरोध' स्पष्ट ही है। तथा 'युक्ति विरोध' भी है कि जिस आत्मा ने साधन किया हुआ साधन फल दिए बिना ही नष्ट हो गया। अतः 'कृतविप्रणाश' और जो आत्मा उत्पन्न हुआ, उसने साधन किया था नहीं फिर भी उसको फल मिला, अतः 'अकृताभ्यागम' दोष उपस्थित होता है। इस प्रकार क्षणिक विज्ञानवाद अकृताभ्यागम तथा कृतविप्रणाशरुप दोषग्रस्त होने से न्याय विरुद्ध संसार में देखा जाता है कि जो प्राणी कर्म करता है उसका फल उसे ही उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा को क्षणिक मानने से सर्वसाधारण के अनुभव का विरोधी हो जाएगा।

(क्रमशः)

प्रभारी

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (गु०का०वि०)

हरिद्वार

वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति काव्यालंकार

डा0 रामनाथ वेदालंकार

काव्य शास्त्रियों ने कतिपय अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार और उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार कल्पित किये हैं, जिन्हें कविजन अपने काव्यों में कविता को अलंकृत करने तथा काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त करते हैं। परन्तु यह नहीं मान बैठना चाहिए कि काव्य शास्त्रियों ने अलंकार पहले निर्धारित कर लिए थे, उनका प्रयोग कवियों ने बाद में किया। वस्तुस्थिति यह है कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि महाकवियों के काव्यों में प्रयुक्त अलंकृत शब्दार्थों को देख कर ही भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट आदि आचार्यों ने नामोल्लेख सहित अलंकारों की उद्भावना की । लौकिक काव्यों से भी पूर्व वेद-संहिताओं में तथा परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य में अलंकारों का प्रयोग मिलता हैं। अतः काव्यालंकारों का मूल उद्भव वेदों को ही माना जाना चाहिए।

यहां हम वेदों में प्रयुक्त अन्योक्ति अलंकार को लेकर कुछ विवेचना करेंगे। अन्योक्ति अलंकार अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के अन्तर्गत आता है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार में वर्णन अप्रस्तुत का होता है, किन्तु उससे व्यंजना प्रस्तुत की हो रही होती हैं। काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के पांच भेद दर्शाये हैं - १. कार्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कारण का वर्णन करना, २. कारण के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत कार्य का वर्णन करना, ३. सामान्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत विशेष का वर्णन करना, ४. विशेष के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत सामान्य का वर्णन करना, ५. तुल्य के प्रस्तुत होन पर उसके तुल्य किसी अन्य का वर्णन करना। अप्रस्तुत प्रशंसा के पांचवें भेद को ही प्रायः रीतिकालीन आचार्यों ने अन्योक्ति अलंकार नाम दिया है।

इस अन्योक्ति अलंकार को स्पष्ट करने के लिए संस्कृत साहित्य से इसके कुछ उदाहरण आगे दिये जा रहें हैं।

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च।।

"इस दुष्ट समुद्र ने सरिताओं के मुखों से चारों ओर से पानी लेकर भला क्या कमायी की? उस पानी को खारा कर दिया, वाडवाग्नि में उसकी आहुति दे दी और पाताल की कोख में डाल दिया।" यहां अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन से उस प्रस्तुत मनुष्य की व्यंजना हो रही है जो दूसरों की संपत्ति को अपने अधीन करके दुष्कार्य में लगा देता है।

एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभि र्धावन्ति।

अम्बरमावृति शून्यं हर हर शरणं विधेः करुणा।।

"कबूतर का बच्चा एक है, उसकी ओर भूख से पीड़ित सैंकड़ो बाज दौड़े आ रहे हैं। आकाश में कोई छिपने का स्थान भी नहीं है। ऐसी अवस्था में विधाता की दया ही शरण है।" यहां कोई शत्रुओं से आक्रमण किया जाता हुआ, शरणहीन, असहाय मनुष्य प्रस्तुत है उसके स्थान पर अप्रस्तुत कपोत-शिशु का वर्णन किया गया है।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्

अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वे तु नै कादृशाः।

केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।

"हे मित्र चातक, क्षण भर के लिए सावधान मन से मेरी बात सुन लो। आकाश में बादल तो बहुत से हैं, किन्तु सब एक समान नहीं है। उनमें से कुछ ऐसे हैं जो वर्षा से भूमि को सींचते रहते हैं, किन्तु दूसरे कुछ ऐसे भी हैं जो केवल व्यर्थ ही गर्जना ही करते हैं, देते कुछ नहीं। इसलिए जिसे भी देखो उसी के आगे दीन वचन बोल कर पानी की मांग मत करो। यहां अप्रस्तुत चातक के वृतान्त से प्रस्तुत याचक को कहा जा रहा है कि तुम देने वाले और न देने वाले हर एक के आगे हाथ मत पसारो।"

इसी प्रसंग में कबीर का यह दोहा भी द्रष्टव्य है:

माली आवत देखि कै, कलियन करी पुकार।

फूली-फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बार।।

"माली को आता देख कर कलियां पुकार मचा रहीं हैं कि माली ने फूली-फूली कलियों को चुन लिया है, कल हमारी भी बारी आने वाली है।" यहां माली और कलियों के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा सभी लोग यमराज के मुख में जाने वालें हैं। यह प्रस्तुत अर्थ सूचित हो रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी स्थलों में यह बात दिखाई देती है कि प्रस्तुत कोई अन्य है और वृत्तान्त किसी अन्य अप्रस्तुत का वर्णित किया जा रहा है।

इस अलंकार को आचार्य रुद्रट ने भी अन्योक्ति नाम से ही स्मरण किया है तथा निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्जवलं सरः सरसम्।

बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि।।

कोई हंस दूसरे हंस को कह रहा है कि राजहंस जिसमें लीलापूर्वक विहार करते हैं और जो खिले हुए कमलों से उज्जवल है उस सरस सरोवर का छोड़कर तू बगूलों से विलोडित जल वाले जोहड़ को चाट रहा है,

इससे प्रतीत होता है कि तू सचमूच हंस नहीं है। यहां अप्रस्तुत हंस के वृत्तांत से उस प्रस्तुत नर श्रेष्ठ को चेतावनी दी जा रही है जो अपनी श्रेष्ठता को तिलांजलि देकर अश्रेष्ठ व्यवहार करने पर उतारु हो रहा है।

ऐसी अन्योक्तियां वेद संहिताओं में भी बहुतायत से मिलती हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन यहां कराया जा रहा है।

१. *पहेली-रुप अन्योक्तियां*

२. *द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।*

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋग्० १.१६४.२०

परस्पर सहयोग करने वाले एक-दूसरे के सखा दो सुन्दर पंखों वाले पंछी हैं, जो एक ही वृक्ष पर बैठें हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादु फल को खा रहा है, दूसरा बिना चखे केवल द्रष्टा बना हुआ है।

वस्तुतः यहां पक्षियों का वृत्तान्त अप्रस्तुत है, प्रस्तुत है परमात्मा, जीवात्मा और जगत् परमात्मा और जीवात्मा एक-दूसरे के सखा हैं तथा एक ही जगत्-रुप वृक्ष पर बैठें हैं। उनमें से एक जीवात्मा जगत् के स्वादु फलों का भोग कर रहा है, दूसरा परमात्मा साक्षीमात्र बना हुआ है। इस प्रकार अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा यहां प्रस्तुत की व्यंजना हो रही है।

३. *द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।*

आ पुत्रा अग्न मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः।।

ऋग्० १.१६४.११

बारह अरों वाला एक चक्र है, जो टूटता नहीं। सत्य नियमों वाला वह चक्र आकाश में चक्कर काट रहा है। एक विशेष बात यह है कि इसके ऊपर ७२० यूगलपुत्र बैठे हुए हैं।

यहां अप्रस्तुत बारह अरों वाले चक्र के वर्णन से प्रस्तुत बारह महीनों से युक्त संवत्सर की अभिव्यंजना हो रही है, जिसमें ७२० मिथुनभूत अहोरात्र (३६० दिन और ३६० रात्रियां) स्थित हैं।

इस श्रेणी की अन्योक्तियां वेदों में बहुत हैं।

अग्नि को संबोधित अन्योक्तियां

कुछ अन्योक्तियां वेदों में अग्नि को संबोधित की गयी हैं।

यथा :

४. *स छँ सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।*

वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्।।

यजु० ११.३७

हे अग्नि, तू उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू महान् है, विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू संसार में जगमगा।

हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू आरोचमान धुएं को उत्पन्न कर।

यहां वक्ता का इसमें तात्पर्य नहीं है कि भौतिक अग्नि चमके और गगनचुम्बिनी धूमशिखा को ऊपर उठाये। वस्तुतः यहां मनुष्य प्रस्तुत है। अप्रस्तुत अग्नि के उद्बोधन द्वारा प्रस्तुत मानव को उद्बोधन दिया जा रहा है कि तू अपनी शक्ति को पहचान, तू महान् है, संसार में सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त कर अनुपम तेज से जगमगा अपने आरोचमान, दर्शनीय प्रभाव रुप धूम को सर्वत्र फैला।

५. *प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्म्।*
बृहद्विर्भानुभिभसिन् मा हिं थँ सीस्तन्वा प्रजाः।।

यजु० १२.३२

हे अग्नि, ज्योतिर्मय तू अपनी शिव ज्वालाओं से प्रयाण कर। विशाल तेजों से जगमगाता हुआ तू अपने शरीर से प्रजाओं की हिंसा मत कर।

यहां भी वस्तुतः वक्ता का तात्पर्य अग्नि को उद्बोधन देने में नहीं, प्रत्युत मानव को उद्बोधन देने में है। जो मनुष्य भयंकर हिंसा और घात-पात में लगा हुआ है उसे कहा जा रहा है कि तू अपने भीषण शस्त्रास्त्रों से निर्दोष प्रजाजनों की हिंसा मत कर, प्रत्युत अपने अशिव तेज को छोड़कर शिव तेज का प्रसार कर और भयंकर नर संहार का त्याग करके जन-कल्याण कर।

६. *उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ ओषतात् तिग्महेते।*
यो नो अरातिं थँ समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतसं न शुष्कम्।।

यजु० १३.१२

हे अग्नि, तू उठ अपनी ज्वालाओं का प्रसार कर। हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू शत्रुओं को दग्ध कर। हे देदीप्यमान, जो हमसे शत्रुता करे उसे तू शुष्क वृक्ष के समान भस्म कर दे।

यहां भी अप्रस्तुत अग्नि के माध्यम से प्रस्तुत मानव को ही उद्बोधन दिया जा रहा है- हे मानव, तू उठ, कमर कस ले, जागरुक रह कर अपने प्रभाव को फैला। हे तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों वाले, तू अपने आग्नेयास्त्रों से शत्रुओं को जला दे। हे प्रदीप्त तेज वाले, जो हमारे प्रति शत्रुता का आचरण करता है, उसे सूखे वृक्ष की भांति भस्म कर दे।

घोड़े को संबोधित अन्योक्तियां

वेद की कुछ इतर अन्योक्तियां वाजी (घोड़े) के नाम से मानव को उद्बोधन दे रही हैं। यथा :

७. *वातरंहा भव वाजिन युज्यमान*
इन्द्रस्यैव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस
आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु।। यजु० ९.८

हे घोड़े, तू वायुवेग से चल, रथ में जुड़ कर तू सूर्य जैसी शोभा से संपन्न हो। सर्वविद्याविशारद लोग तूझे रथ में नियुक्त करें। त्वष्टा सूर्य तेरे पैरों में वेग उत्पन्न करे।

वस्तुतः यहां घोड़े के वृत्तान्त से मानव को प्रेरित किया जा रहा है। हे बली मानव, तू वायुवेग से पुरुषार्थ कर इन्द्र राजा के समान लक्ष्मीवान् बन। सब ज्ञान और कर्म के वेत्ता विद्वान् लोग तुझे महान् कर्मों में नियुक्त करें। त्वष्टा अर्थात् दोषच्छेदक आचार्य तेरे व्यवहारों में वेग ला देवे।

८. स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे।। यजु० २३.१५

हे घोड़े, स्वयं तू अपने को समर्थ बना, स्वयं यज्ञ कर, स्वयं अभिलषित प्रदेश का सेवन कर। तेरी महिमा को अन्य कोई नहीं पा सकता। यहां भी घोड़े के प्रोद्‌बोधन द्वारा मानव को ही प्रोद्‌बोधन दिया जा रहा है।

९. तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन् तब चित्तं वात इव ध्रजीयान्।
तव श्रृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।। यजु० २९.२२

हे घोड़े, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् उछलने वाला है, तेरा चित्त वायु के समान वेगवान् है। तेरे सींगों के समान प्रोन्नत रोम शरीर में सर्वत्र विशेष रुप से स्थित हैं, जो तेरे चलने पर टूट-टूट कर जंगलों में गिरते रहते हैं।

यहां श्लेषमूलक अन्योक्ति अलंकार है। घोड़े के वृत्तान्त से मानव का वृत्तान्त वर्णित है। हे घोड़े के समान बली मानव, तेरा शरीर पतनशील अर्थात् विनश्वर है, तेरा चित्त वायु के समान वेगमय है। सींगों के तुल्य विद्यमान तेरे शस्त्रास्त्र शस्त्रागारों में अनेकत्र स्थित हैं। छोड़े जाते हुए वे अरण्यों अर्थात् अरमणीय शत्रुदलों में विचरते हैं।

सूर्य से सम्बद्ध अन्योक्तियां

अब सूर्य-विषयक कुछ अन्योक्तियों का दिग्दर्शन करते हैं।

१०. उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव में जहि।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः।। अथर्व० १३.१.३२

हे प्रकाशक सूर्य, उदित होता हुआ तू मेरे शत्रुओं को मार गिरा। इन्हें तू अश्मा अर्थात् व्यापक रश्मिजाल से विनष्ट कर दे। वे शत्रु घोर अंधकार को प्राप्त करें।

वस्तुतः सूर्य की अन्योक्ति से यहां किसी नेता को उद्‌बोधन दिया जा रहा है। हे दिव्यगुणयुक्त नायक, उत्कर्ष को प्राप्त करता हुआ तू मुझ प्रार्थी के वैरियों को नष्ट कर। इन्हें तू अश्मा अर्थात् लोहे या पत्थर के गोलों से विध्वस्त कर दे। वे शत्रु भूमि के अन्दर विद्यमान अंधेरी काल कोठरियों में डालें जाएं।

अगले मंत्र में हंस नाम से सूर्य का वर्णन करते हुए अन्योक्ति द्वारा जीवात्मा का वृत्तान्त सूचित किया

गया है।

११. *सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।*

स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य सम्पश्यन् याति भुवनानि विश्वा।। अथर्व० १३.२.३८

स्वर्ग अर्थात् आकाश की ओर उड़ते हुए इस सूर्य रुप हंस के उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख सहस्रों दिनों से फैले हुए हैं। वह सब किरण-रुप देवों को अपने वक्षःस्थल में लेकर सब भुवनों को प्रकाशित करता हुआ यात्रा कर रहा है।

यहां सूर्य के यात्रा-वृत्तांत से जीवात्मा की यात्रा व्यङ्ग्य हो रही है। जीवात्मा सहस्रों दिनों से अपने ज्ञान-कर्म-रुप पंखों को फैलाये हुए नाना योनिओं में परिभ्रमण कर रहा है। वह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि देवों को अपने वक्ष में धारण करता हुआ, सब भूतों को देखता हुआ संसार-यात्रा का पथिक बना हुआ है।

एक अन्य मन्त्र में सूर्य को उद्बोधन देते हुए कहा गया है :

१२. *हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा*

ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।

अव तान् जहि हरसा जातवेदो

ऽविभयदुग्रोऽर्चिषा दिवमारोह सूर्य।।

अथर्व० १९.६५.१

हे सूर्य, तू हरि है, मलिनताओं को हरने वाला है, सुपर्ण है, किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला है, तू अपनी ज्योति के साथ द्युलोक में चढ़ जा। द्युलोक की ओर उड़ते हुए तेरी जो हिंसा करना चाहें उन्हें हे जातवेदा सूर्य, तू अपने तेज से विनष्ट कर दे। हे सूर्य, भयभीत न होता हुआ उग्र तू अपनी अर्चि के साथ द्युलोक में आरोहण कर जा।

यहां सूर्य की अन्योक्ति से परम उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील किसी मानव को ही उद्बोधन दिया गया है कि हे मानव, तू प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता जा, मार्ग में जो कोई भी विघ्नकारी तुझे उन्नति के मार्ग से प्रच्युत करना चाहे उसे अपने तेज से या आग्नेयास्त्रों से भस्म कर दे।

वेदों में प्रयुक्त उपरिलिखित कतिपय अन्योक्तियां हमने प्रदर्शित की हैं। पाठक अनुभव कर सकते हैं कि इनमें कितना बल है, कैसी ओजस्विनी प्रेरणा है। सीधे मनुष्य को संबोधन करने पर उतना ओज, उतनी गरिमा, उतनी स्फूर्ति, उतनी तेजस्विता प्रकट नहीं हो सकती थी, जितनी अग्नि, अश्व, सूर्य आदि के माध्यम से मनुष्य को संबोधन करने में उत्पन्न हो सकी है।

अन्त में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। अन्योक्ति अलंकार तभी होता है कि जब अप्रस्तुत का वर्णन किया जा रहा हो तथा उससे प्रस्तुत की व्यंजना हो रही हो। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि अग्नि, अश्व, सूर्य आदि में नेता मनुष्य के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति अलंकार हो जाएगा।

किन्तु यदि यौगिक अर्थ के बल से अग्नि, वाजी, सूर्य, हंस, हरि आदि शब्द वह्नि अश्व और सूर्य रुप वाच्यार्थों के साथ-साथ अग्रनेता, बलवान्, सन्मार्गप्रेरक, प्रकाशमान, प्रकाशक मनुष्य को भी अभिहित करें तब दोनों अर्थों के प्रकृत होने से श्लेष अलंकार होगा।

टिप्पणियां मन्त्रार्थ

१. *अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुतताश्रया।*
कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।।

का०प्र० १०.९८.९९

२. पदार्थ- (द्वा) दो (सयुजा) सहयोगी (सखाया) सखा (सुपर्णा) सुन्दर पंखों वाले पक्षी (समानं वृक्षम्) एक ही वृक्ष को (परिषस्वजाते) आलिंगन किये हुए हैं (तयोः) उन दोनों में से (एकः) एक (स्वादु) स्वादु (पिप्पलम्) फल को (अत्ति) खा रहा है, (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) केवल देख रहा है।

३. पदार्थ- (द्वादशारम्) बारह अरों वाल (ऋतस्य चक्रम्) सत्यमय चक्र है, (तत्) वह (न हि जराय) टूटता नहीं है, किन्तु (द्याम्) आकाश में (परि वर्वर्त्ति) चक्कर काट रहा है। (अग्न) हे विद्वन्, (अत्र) इस चक्र में (सप्त शतानि विंशतिः च) सात सौ और बीस (मिथुनासः पुत्राः) जोड़ीदार पुत्र (आ तस्थुः) आकर बैठें हुए हैं।

४. पदार्थ- (मियेध्य प्रशस्त अग्न) हे पवित्र, प्रशस्त अग्नि, तू (सं सीदस्व) उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर, तू (महान् असि) महान् है। (दिववीतमः) विद्वानों को प्राप्त होने वाला तू (शोचस्व) चमक। (अरुषम्) चमकीले, (दर्शतम्) दर्शनीय (धूमम्) धुएं का (विसृज) छोड़, उत्पन्न कर।

५. पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, (ज्योतिष्मान् त्वम्) ज्योतिष्मान् तू (शिवेभिः अर्चिभिः) शिव ज्वालाओं के साथा (प्रयाहि इत्) अवश्य प्रयाण कर। (बृहद्भिः) बड़े-बड़े (भानुभिः) प्रकाशों से (भासन्) भासित होता हुआ तू (तन्वा) शरीर से (प्रजाः) प्रजाओं की (मा हिंसीः) हिंसा मत कर।

६. पदार्थ- (अग्ने) हे अग्नि, तू (उत् तिष्ठ) उठ खड़ा हो, (प्रत्यातनुष्य) ज्वालाओं को फैला। (तिग्महेते) हे तीक्ष्णज्वाल अग्नि, तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (नि ओषतात्) निर्दग्ध कर दे। (समिधान) हे देदीप्यमान, (यः) जो (नः) हमारे प्रति (अरातिम्) अदान को, हानि को (चक्रे) उत्पन्न करे (नीचा तम्) उस नीच को (शुष्कम् अतसं न) सूखे वृक्ष के समान (धक्षि) भस्म कर दें।

७. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, (युज्यमानः) रथ में जोड़ा जाता हुआ तू (वातरंहाः भव) वायु के समान वेग वाला हो। (दक्षिण) दक्षतायुक्त तू (इन्द्रस्य इव) सूर्य के जैसी (श्रिया) शोभा से (एधि) युक्त हो। (विश्ववेदसः) सब विद्याओं के ज्ञाता (मरुतः) मनुष्य (त्वा) तुझे (युञ्जन्तु) रथ में

नियुक्त करें। (त्वष्टा) सूर्य (ते) तेरे (पत्सु) पैरों में (जवम्) वेग को (आ दधातु) रख देवे।

८. पदार्थ- (वाजिन्) हे बलवान् घोड़े, तू (स्वयम्) अपने आप (तन्वम) शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ बना, (स्वयम्) अपने आप (यजस्व) यज्ञ कर, (स्वयम्) अपने आप (जुषस्व) मनोवांछित प्रदेश का सेवन कर। (ते महिमा) तेरी महिमा (अन्येन) दूसरे के द्वारा (न संनशे) प्राप्त नहीं की जा सकती।

९. पदार्थ- घोड़े के पक्ष में। (अर्वन्) हे घोड़े, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) उछलने वाला है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के समान प्रोन्नत रोम (पुरुत्रा) तेरे सारे शरीर में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराषा) टूट-टूट कर (अरण्येषु) जंगलों में (चरन्ति) गिरते हैं।

मानव के पक्ष में। (अर्वन्) हे अग्रणी मानव, (तव शरीरम्) तेरा शरीर (पतयिष्णु) नाशवान् है। (तव चित्तम्) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीयान्) अतिशय वेगवान है। (तव श्रृङ्गाणि) तेरे सींग अर्थात सींगों के तुल्य नोकीले तेरे शस्त्रास्त्र (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (विष्ठिता) विविध रुप में स्थित हैं, जो (जर्भुराषा) प्रहार किये जाने पर (अरण्येषु) अरमणीय शत्रुओं पर (चरन्ति) गिरते हैं।

१०. पदार्थ- (दिव सूर्य) हे प्रकाशक सूर्य, (उद्यन् त्वम्) उदित होता हुआ तू (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अव जहि) मार गिरा। (एनान्) इन्हें (अश्यना) व्यापक रश्मिजाल से (अव जहि) मार गिरा। (ते) वे शत्रु (अधमं तमः) निचले अंधेरे में (यन्तु) चले जायें।

११. पदार्थ- (स्वर्गं पततः) आकाश की ओर उड़ते हुए (हरेः) मलिनताओं को हरने वाले (अस्य हंसस्य) इस सूर्य रुप हंस के (पक्षौ) उत्तरायण-दक्षिणायन-रुप पंख (सहस्राह्ण्यम्) हजारों दिनों से (वियतौ) फैले हुए हैं। (सः) वह (सर्वान् देवान्) सब प्रकाशक किरणों को (उरसि) अपने वक्षःस्थल में अर्थात् सूर्यमण्डल में (उपदद्य) देकर (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सम्पश्यन्) प्रकाशित करता हुआ (याति) गति कर रहा हैं।

१२. पदार्थ- (हरिः) मलिनताओं को हरने वाला (सुपर्णः) किरण-रुप सुन्दर पंखों वाला तू, हे सूर्य (अर्चिषा) ज्योति से (दिवम् उत्पतन्तम्) मध्यायह्नाकाश की ओर उड़ते हुए (त्वा) तुझे (ये दिप्सन्ति) जो दबाना चाहें, विघ्नित करना चाहें (तान्) उन्हें, (जातवेदः) हे प्राकशक सूर्य, तू (हरसा) ज्योति से (अवजहि) मार गिरा। (अविभ्यत्) भयभीत न होता हुआ (उग्रः) उग्र तू (सूर्य) हे सूर्य (अर्चिषा) तेज के साथ (दिवम्) मध्याह्नाकाश में (आरोह) चढ़ जा।

१३. *समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।*

व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।।

सा०द० १०.५६

वेद मन्दिर

ज्वालापुर, हरिद्वार-२४९४०७

संस्कृतवाङ्मये धनुर्वेद विज्ञानम्

डा0 दिनेशचन्द्रो "धर्ममार्तण्डः"

अतिप्राचीनकालात् शारीरिक शिक्षायश्चर मोत्कर्षो धनुर्वेद विज्ञाने ऽन्तर्निहितोऽस्ति। अत्र विज्ञानस्य तात्पर्यं प्रयोगविज्ञानम् विशिष्टं ज्ञानं वा ऽस्ति। धनुर्वेदस्य इतिवृत्तं तत्परम्परावाप्त शिक्षणञ्च वेदानामेव पुरातनीमन्वेति। अत एव सर्वेषु वेदेषु अस्य विज्ञानस्य वर्णनं विहितम्। अस्य एकमेव कारणं केवलम् राष्ट्ररक्षणमेवास्ति। धनुर्वेदं विना राष्ट्ररक्षणमसम्भवम्।

पुरा विशेषेण क्षत्रिया एव राष्ट्ररक्षा-भारं वहन्ति स्म। 'क्षत्रे' ति शब्दस्य अर्थ एवाऽस्ति विघ्नवारकः। महाकविना कालिदासेन रघुवंश महाकाव्ये भणितं यत् क्षत्रियाः स्वीयां रक्षां स्वयमेव कुर्वन्ति स्म, ते पररक्षिताः पराश्रितावा नासन्। अतः स्वस्य परेषाञ्च रक्षायै धनुर्वेदस्य प्रयोजनम् नितराम् आवश्यकम्। महर्षि वशिष्ठ प्रणीतायां धनुर्वेदसंहितायाम् लिखितं यत् दुष्टतस्करस्तेनादिभ्यः साधूनां परित्राणं प्रजानाञ्च पालनं धनुर्वेदस्य मुख्यं प्रयोजनमस्ति। यदि कश्मिंश्चित् ग्रामे एकोऽपि महान् धनुर्धरो भवति स्म तर्हि तेन तस्य ग्रामस्य रक्षा भवति स्म, शत्रवः तम् वीक्ष्य पलायन्ते स्म। महाकविना भवभूतिनाऽपि 'उत्तरराम चरिते' धनुर्वेदस्य रक्षात्मकं स्वरुपं चित्रितमस्ति। शुक्रनीत्यनुसारं धनुर्वेदः केवलं धनुः -सञ्चालन- प्रक्रियाया एव ज्ञानं न कारयति स्म, अपितु युद्धोपयोगिनां सकलास्त्र शस्त्राणाम् निर्माण सम्बन्धि प्रयोगात्मकं विवरणमपि उपस्थापयति स्म। तत्स्वरुपम् रौद्रात्मकं मन्यते स्म।

वैदिक युगे वीरतायाः सैन्यबलस्य च चिन्हम् धनुरासीत्। वस्तुतः सैन्यशक्तेः पर्यायः धनुरेव आसीत्। ऋग्यजुर्वेदसंहितयोर्निम्नाङ्कितैकमन्त्रानुसारम् सर्वाः काष्ठाः जेतुं शक्नुवन्ति स्म -

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम।।

ऋग्वेद ६.७५.२, यजु० २९.३९

एवमेव अन्यत्र ऋग्वेदे ब्रह्मणस्पतिं लक्ष्यीकृत्य उदीरितं यत् ते बाणप्रक्षेपणे कुशला आसन्, स्वाभीप्सित प्राप्तिरपि धनुर्बलेनैव कुर्वन्ति स्म। तैः प्रक्षिप्ताः शराः कार्यसाधने सर्वथा समर्था आसन्-

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्रतदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः।।

ऋग्० २.२४.८

अथर्ववेदे एकस्मिन् सूक्ते धनुः प्रति अभ्यर्थना विहिताऽस्ति। यत् त्वां संधार्य अहं क्षत्रतेजसा बलेन च युक्तः स्याम्। अत्रैव द्रविण कामना अपि विहिता-

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्।। अथर्व० १८.२.६०

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे वीरपुरुषस्य लक्षणे सशस्त्ररुपं प्रतिपादितमस्ति। तत्र आशयोऽयमस्ति यत् वीरपुरुषाणां चापाः कदापि प्रत्यञ्चा- रहिताः तूणीराश्च शररहिताः न भवन्ति। समासेन इदं वक्तुं शक्नुमो यत् वीरपुरुषाः सर्वदा चाप-सज्जिताः भवन्ति स्म -

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ उत।

अन्नेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः।।

यजु० १६.१०

"अस्माकनिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु" इति सामवेद (२.१२)- मन्त्रेऽपि यत्र वज्रधारिणां सैनिकानां रक्षायै इन्द्रः प्रार्थितस्तत्र युद्धे प्रयुक्ताः शराः जयन्तु, इति वर्णनम् उपलभ्यते।

चापेष्वोः वैदिकं लौकिकं च व्यापक प्रभावं वीक्ष्यैव भगवता कृष्णेन 'श्रीमद्भागवते' भणितम् -

"आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम्" (भाग० ११.६.२०)

"उपवेदा प्रायोगिका भवन्ती"- ति प्रायशः सर्वे जानन्ति। प्रयोगानामभावे ते बहूनि दिनानि यावत् प्रचलिता न भवन्ति। आयुर्वेद -गान्धर्ववेद- स्थापत्यकलादीनां यावत् प्रयोगात्मकं शिक्षणम् अभ्यासश्च न स्यात् तावत् केवलं पुस्तकानामध्ययनेन आलोचनेन च यथार्थलाभो न भवति। कालक्रमेण विस्मृतिं प्राप्ता इतरे उपवेदास्तु केनापि प्रकारेण अद्यावधिः जीविताः परं धनुर्वेदस्य स्थितिरतीव चिन्तनीया अस्ति। केवलम् अरण्यक्षेत्रेषु एवास्य व्यवहारो दृग्गोचरीभवति। यस्मिन् भारते वर्षे धनुर्वेदसदृशम् अपूर्वम् सैन्यविज्ञानं स्यात्, तत् किं पारतन्त्र्यं कदापि अधिगन्तुम् शक्येत्। एतत् सर्वम् अस्माकम् अनवधानतया सञ्जातम्। इदानीम् स्वतन्त्रे भारते अनवधानतेयम् परिशोधनीया।

पुरा धनुर्वेदस्य इयान् महान् प्रचार आसीत् यत् पुराणरामायण महाभारत काव्यग्रन्थेषु सर्वत्र अस्य चर्चा व्यवहारश्च प्राप्नोति। बौद्ध साहित्यस्य 'ललितविस्तरे' [१] ग्रन्थेऽपि यत्र बोधिसत्वस्य अन्यासु कलासु वैलक्षण्यमिति कथितम् तत्र धनुर्वेदेऽपि नैपुण्यं भणितम्। रामायणकालवत् अस्मिन् समयेऽपि कुशलाय धनुर्धराय श्रेष्ठा कन्या दीयते स्म, डिण्डिम घोषोऽयं आसीत् यत् शिल्पज्ञाय कन्या दातव्या। 'मिलिन्दप्रश्ने' ये शिल्पाः परिगणिताः तेषु धनुर्वेदोऽपि आसीत्। एवमेव जैनागमे [२] द्विसप्ततिसंख्याककलानां मध्ये धनुर्वेदोऽपि आसीत्। सारांशतः प्रत्नग्रन्थेषु सर्वत्र चर्चितत्वात् यथा अन्ये उपवेदाः सुव्यवस्थित शास्त्रत्वेन प्रतिष्ठिताः आसन् तथैव अयमपि आसीत्, यस्य पठनम् पाठनं तदा व्यापकम् आसीत्।

धनुर्वेदस्य मूल प्रवक्ता भगवान् सदाशिवः। इमम् (धनुर्वेदं) सदाशिवात् परशुरामोऽवाप्नोत्। महर्षि वशिष्ठः तेषां सतीर्थ्य एव आसीत्। वशिष्ठात् विश्वामित्रेन प्राप्तम्। अत एव वसिष्ठप्रोक्त धनुर्वेदो विश्वामित्रप्रोक्त धनुर्वेदश्चोभावेव साम्यं भजेते। पादचतुष्टयात्मको धनुर्वेदो

१. द्र. ललितविस्तार शिल्पसंदर्शन परिवर्त द्वादश पृष्ठ १०८

२. द्र. समवायांग सूत्र तथा रायपसेयि सूत्र

विश्वामित्रप्रणीत एव इति प्रस्थानभेदे[३] वर्णनम् उपलभ्यते। 'व्यायामज्ञानकोशे' उदीरितमास्ति यत् वसिष्ठोक्ते धनुर्वेदे तन्त्रयुद्धस्य प्राधान्यमस्ति। विश्वामित्रेन धनुर्वेदशास्त्रं संशोध्य इदं शास्त्रीयम् रुपञ्च प्रदाय प्रधानाचार्य पदं लब्धम्। 'हिन्दुत्वे'-ति नाम्नि ग्रन्थे रामदासगौडमहाभागेन लिखितं यत् प्रस्थानभेदकाराः मधुसूदन सरस्वती महाभागाः विश्वामित्र प्रणीतं धनुर्वेदं जानन्तिस्म, यच्च अद्यावधिः अप्राप्योऽस्ति। किन्तु इदं विचारणीयं यत् 'प्रस्थान भेदे' 'हिन्दुत्वे' च वसिष्ठोक्तस्य धनुर्वेदस्य चर्चा एव नास्ति इत्थम् धनुर्वेदस्य मौलिका प्रतना ग्रन्थाः सम्प्रत्यनुपलब्धा उपलब्धा वा निम्नोट्टङ्किताः परिज्ञायन्ते। ते चैते-

शिवविरचितो धनुर्वेदः, वसिष्ठप्रणीतो धनुर्वेदः (संहितारुपः), भरद्वाजकृतो धनुर्वेदः, वैशम्पायनप्रणीतो धनुर्वेदः, वृद्धशार्ङ्गधर कृतो धनुर्वेद, द्रोणाचार्यप्रणीतो धनुः प्रदीपः परशुराम कृतो धनुश्चन्द्रोदयश्च।[५]

धनुर्वेदस्य दीक्षापादः, संग्रहपादः, सिद्धपादः प्रयोगपादश्चेति चत्वारः पादा विद्यन्ते।[६] महाभारतस्य नीलकण्ठी टीकायां दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा तेषां साधनानि चेति चत्वारः पादाः निर्दिष्टाः। अग्निपुराणानुसारम् अपि धनुर्वेदश्चतुष्पादात्मकः।[७] तत्र प्रथमे दीक्षापादे धनुर्लक्षणम्, अधिकारिनिरूपणं दीक्षा-अभिषेकादीनां विधानञ्चोपलभ्यन्ते। संग्रहपादे प्रामुख्येणाचार्यलक्षणं, मन्त्रशस्त्रादि विषयाणां संग्रह विधानञ्च विवृते स्तः। सिद्धपादे सकलविधशस्त्रास्त्राभ्यासविधिविधानं, मन्त्रदेवतासिद्धिविधानञ्च वर्णिते स्तः। प्रयोगपादे मन्त्रदेवतार्चनं सिद्ध शस्त्रास्त्रादि[८] प्रयोगादिकञ्च विवृते वरीवृततः।

चतुष्पादधनुर्वेदानुसारं धनुर्वेदस्य शिक्षा सैनिकी शिक्षा। इमां शिक्षां लक्ष्यीकृत्य वेदानां नैकेषु सूक्तेषु वर्णनं समायातम् अस्ति। यथा चन्द्रमभिलक्ष्य ऋग्सामवेदयोरेकस्मिन् सूक्ते भणितम्-

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वानां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः।।
(ऋग्० १०.१०३.१० ; सा०उत्तरा० २१.१.१८५८)

---

३. प्रस्थानभेद्र , पृष्ठ १५
४. गुरुवेदज्योतिः, पृष्ठ ३०५
५. अमी ग्रन्था बङ्गविश्वकोषकारेण धनराजशास्त्रिणोल्लिखिताः पुराणेषूद्धृताश्च समवगम्यन्ते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदाताराः, संस्कृतवाङ्मयम्, पृष्ठ १४१)
६. महाभारत, शल्य० ६.१४
७. अग्निपुराण २४९.१
८. नारायणास्त्र-पाशुपतास्त्र-ब्रह्मास्त्र-ब्रह्मदण्डास्त्र-ब्रह्मशिरसास्त्र-ऐन्द्रास्त्र
- वायव्यास्त्र-आग्नेयास्त्र-पार्जन्यास्त्र-पार्वतास्त्र-सार्पास्त्र-गारुडास्त्र-सम्मोहनास्त्र-स्तम्भनास्त्रादीनां युद्धप्रसङ्गादिषु परिवर्णनं रामायण-महाभारत-पुराणादिषु विहितमुपलभ्यते। (द्र० हरिकृष्ण शास्त्रिदाताराः, संस्कृत वाङ्मयम्, पृष्ठ १४२)

एवमेव यजुर्वेदस्य एकस्मिन् मन्त्रे सैनिकीं शिक्षां सम्बोध्य कथितं यत् त्वं (शिक्षा) शत्रुहन्त्री विजयशीला च भव तथा त्वं देवतानां सर्वाणि कण्टकानि अपसारय। यथा चाऽऽह

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिंह्यसि सपत्नसाही।

देवेभ्यः शुन्धस्व सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुंभस्व।।

(यजु० ५.१०)

इत्थं संस्कृत वाङ्मये वेदस्मृति गृह्यसूत्रेतिहासपुराणरामायणमहाकाव्य प्रभृतिषु क्वचित् विस्तरेण क्वचिच्च समासेन धनुर्वेदस्य व्यापकं स्वरुपं तत् शिक्षा चोल्लिखिता विभाति। राष्ट्ररक्षायै नूतने परिवेशे धनुर्वेदोपयोगो ऽनपह्नेय इतिदिक्।

वरिष्ठ प्रवक्ता, वेदविभागे

THE WORDSWORTH MATRIX IN G.D. ROBERTS' TANTRAMAR REVISTED

Dr. Satendra kumar

'The Tantramar Revisited' says Keith, in his 'Introduction' to Roberts' Selected Poetry and Critical Prose (1974), Shows the poet 'at the height of his power' and it transcends the poetry of mere 'nostalgia and rural description' to become' a sensitive and intelligent enquiry into the nature of memory and change'.[1] Usually remarking that the poem is derivative and reminiscent without being original or innovative.[2] Roberts did not invent a new form for his poem, his decision to remember and to echo in ' The Tantramar Revisited' the verse forrm, the cadences, and even specific details [3] of Evangeline is both apt and appropriate, not only because his poem takes as its theme, 'nostalgic rememberance', [4] but also because it takes as its subject a portion of the landscape of the Maritimes, and indeed precisely that portion which Cappon appositely calls, ' the land of Evangeline' [5]. Roberts adds historical depth and resonance to his meditation on the effects of time and memory in the region of the Tantramar marshes on the Bay of Fundy. 'The Tantramar Revisited' thus gains an historical dimensions (and it is worth remembering here Roberts' well known fascination with the history of the Maritimes) through an allusion inherent in its verse form and its cadences.

Roberts servers the readers' ear notice- of what, in effect, is the imaginative adventure of the poem ; the speaker's discovery of the disconjuction between his expectation and the reality, between his expectation that the marshlands have not been affected by Time and the reality that, of course, they have. The speaker of the poem comes to realize that even in the Landscape of his youth the same forces are at work.

'Nature poetry', wrote Roberts in the December 1897 issue of Forum, (New York), is not mere description of landscape in metrical form, but an expression of one or another of many vital relationships between external

nature and 'the deep heart of man'' [6].

The Canadian poet derived his concern for the fact that Man alone, being both a part of and apart from the natural world, feels the burden of time and death, while Nature itself, whether it be through mere endurance (as in the case of geophysical formations such as rock and ocean) or through seasonal and cyclical reoccurance (as in the case with trees, grass and other aspects of the vegetable world), seems immune to the forces of Time and Death. Be this as it may, I shall try to show that a concern with the effects of Time and Death on Man and Nature lies at the coire of 'The Tantramar Revisited' and, moreover, that the interaction bertween 'external nature' and the 'heart' of the speaker is the source of the dialectcal and dramatic development that takes place in the poem. This development resides in the gradual transformation of the speaker's attitude to and perception of the Tantramar landscape from a place where, the forces of 'chance and change' have also taken their roll. By means of the interaction between the speaker (Man) and the landscape (Nature) the poem explores the effects of Time.

Roberts' poetry is, to a large extent, derivative. His poems avail themselves of situations that atre Wordsworthian, images that are Wordsworhtian, phrases that are Wordsworthian.

The poem is his version or more properly, his inversions of Wordsworth's 'Tintern Abbey'. The core of the poem is unmistakably Wordsworthian : the setting is the Lake Country of the Romantics ; the situation a return to the earlier associations of the scene by a matured poet and his sister ; the import, a creed handed down by the poet to his listener.

In 'Tintern Abbey' Wordsworth and Dorothy stand,' here upon the banks of this fair river'. The poet mourns his lost childhood oneness with Nature but derives joy from the knowledge that his sister still possesses the power that he has lost. The poem ends on a triumphant asseration of his belief in a matured and 'sober pleasure' based on the 'wild esctasies' of youth. Memory

becomes a source of joy : Nature never did betray the heart that loved her. The poet, "a worshiper of Nature", can readily become its priest.

In 'Tantramar Revisited' Roberts stands on a tidal river that empties into the Cumberland Basin of the Bay of Fundy : 'here from my vantage ground'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes sad to reminiscent the old landscape ; but he takes consolation ' as I sit and watch this present peace of landscape'. The poem ends with a tinge of hope and memory becomes a source of joy : 'many and many a sorrow has all but died from rememberance'. He hopes to derive a creed based on his observation of Nature. But while Roberts' earning for sobering 'thoughts' suggested by the surroundings is not unlike Wordsworth's, his interpretation of these surroundings is marked different. To Wordsworth the communion between Nature and Man is intself an abundent compensation for the mutability of life - it brings out the communion between brother and sister, man and man and confirms the poet in his role of Nature's high priest. To Roberts on the other hand, the utter impersonality of the scene before him only accentuates the need for an adequate attitude towards a Natural world which can no more provide the 'tender joy' that Wordsworth was capable of extracting from it than it can act as a stimulas for the heightened sensation sought by Roberts.

The isolated poet who converts the 'still sad music of humanity into a joyful faith, has become a detached stoic contemplation, content with, "the hands of chance and change". For what has changed, above all, is the order preceived by the poet and the manner in which the poet's perception has been achived. The devine 'presence' perceived by Wordsworth resides in the lanscape he sees as well as in himself. It is

a sense sublime
Of something far more deeply interfused,
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,

And the blue sky, and in the mind of man;
A motion and a spirit that impels,
All living things, all objects of all thought,
And rolls thourgh all things.

To Roberts, on the order had, is the aggregate of all that is visible; an impersonal and tyrannical power which offers not joy, but peace' to him who apprehends its operations.

Yet as I sit and watch, this present peace of the landscape
Stranded boats, these reels empty and idle, the hush
One grey hawk show-wheeling above you cluster of haystacks,
More than the old time stir, how once it stung me with rapture
Old time sweetness, the winds freighted with honey and salt!
Yet will I stay my steps and not go down to the marshland,
Muse and recall far off, rather remember than see
Iest on too close sight I miss the darling illusion,
Spy at their task even here the hands chance and change.

Nature has provided Wordsworth with all 'holy love' ; it has only confirmed Roberts' saddened intellectual awareness.

'Tantramar Revisited' and 'Tintern Abbey' rely on the modulation of conflicting moods, both poems conclude on the speaker's subjection to a discipline based on Nature. Wordsworth emphasizes the beneficence of this discipline ; Roberts emphasizes its grim necessity. We see that the poet is emphasizing the speaker's inability noted by strong, to maintain the assurance asserted in the opening section. Instead of a sense of stability reinforced by even candances and balanced statements, we are given in the section an increasing emotional departure from the present. In each case, the

landscape has acted as a guide. But while for Wordsworth Nature is an active teacher and comforter who readily reveals ' a presence that disturbs me with the joy of elevated thoughts', Roberts' thoughts are addressed rhetorically to the impassive landscape before him so that it might confirm his own well rehearsed lesson in the art of remembring :

Miles on miles beyond the the tawny bay is Minudie
These are the low blue hills, village gleam at their feet
Nearer a white sail shines across the water, and nearer Still are
the slim, grey masts of fishing boats dry on the flats.
Ah how well I remember those wide red flats, above tide mark
Pale with scurf of the salt seamed and baked in the sun!
Well I remember the piles of blocks and ropes, and the ret-reels,
Wound with the beaded nets, dripping and dark from the sea.

The lesson of joy given to Wordsworth is thus subverted. For Roberts' nature is utterly impervious to the emotional demands of its students. 'The meadows and the woods and mountains' speak freely to Wordsworth in the "language of sense". Roberts, however, must scrupulously points out that the language he ascribes to the scene before him is really his own.

Wordsworth's vision is transcedent and symbolical : ocean, air, and sky contain the same spirit which dwells ' In the mind of man' Roberts' vision is analytical and allegrical ; the mind of man can tentatively impose its understanding upon what it apprehends through the senses. Therefore, while Wordsworth's poet is medium for the divine plan of Nature, Roberts' poet is merely the interpreter of the 'dumb' wishes of a neutral universe. Whereas Wordsworth becomes infused and intoxicated by the centrifugal power of Nature. Roberts must stand aside and examine his own relative position in time and space in order to preserve his 'hands of chance and change'. To

conclude (in few), ' The Tantramar Revisited', thus, represents Roberts' attempts to give a contemproary 'application' to Wordsworth's Romantic poem.

NOTES

1. **Selected Poetry and Critical Prose** (University of Tornoto Press,1974),p.xxi.
2. Pacey's Essays, p.193
3. Two tone quotations from the opening sections of **Evangeline, The Poetical Works of Longfellow** (London : Fredrick Warne, n.d.) pp.106 and 109, should be sufficient to establish the connections :

   Dikes that the hands of the farmer had raised with labour Intessant,
   Shut out the turbulent tides ; but at stated season the food gates,
   Opened, and welcomed the sea to wander at will over the meadows.
   West and South there were fields of flax, and orchards, and cornfields,
   Spreading after and undefenced over plain ; and away to north ward
   Blomidon rose ....
   Now had the season returned, when the nights grow colder and longer,
   And the retreating sun the sign of the Scropion enters,
   Birds of passage sailed through the leaden air.......
4. **Ten Canadian Poets**, p.48
5. **Charles G.D. Roberts** (Toronto : Ryerson, 1925), p.12
6. **Selected Poetry and Critical Prose**, p.281.

Community Education

Dr. SHASHI BHANU VIDYALANKAR

Community education for Social Development in present scenario :

1. The hazard to the continuity and source of inspiration of the commu nity Education Programme. The main cause of determnent to the con tinuity of this programme is the uncertain future of the people involve.
2. Insufficient financial resources.
3. The villager's attitude of indifference towards the programme.
4. The lack of direct and full co-operation of the local unit like Gram Panchayat.
5. The literacy movement has to be related to many related aspects, par ticularly the livelihood of the engaged workers.
6. The literacy should have been thrusts towards the increase of knowl edge, general entertainment and co-operation of the community. For this regional centers of folk culture should be established.
7. Non-Government (NGOs) organisation should be involved and en couraged for the dynamic growth of this programme. For this NGOs should be granted greater freedom to work. At the same time the progress of their work should be assessed from time to time. For adopt ing new methods and to entuse full life to this movement new rural talents of young men and women should be discovered and encour aged to participate in the movement.

ADULT EDUCATION

'Community Education' this phrase of word is generally meant that education for backword people like labours, women of backward areas and generally education for them after the primary education, and specially edu- cation for child labours.

In this changing scenareo where University system is going to be Privatised. In this we can take a topic education for Adults.

The adult education departments were started into the University system as a part of Government policy in 1978. They were initially established as an extension activity to contribute towards national endeavour to eradicate illiterary.

For Adults how this education we can give in the form of community? Answer of this question is that how should Teaching Activities Organised.

METHOD USED :-

Adult education in the form of community is essentially a method of quantitative description of the general characteristics of a group. This mehtod of Adult education in the form of community education deals with the relationship between variables, the listing of hypotheses and development of generalizations that have universal validity. In the words of F. L. Whiteny in his book 'The Elements of Research', Page 161 "nominative survey is an organised attempt to analize, interpret and report the present status of the social institutions, group or area." According to J. W. Best in his book ' Research in Education', Page 107 "Gather data from a relatively large number of cases at a particular time. It is no concerned with the characteristics of individuals. It is concerned with the generalized statistics that result when data abstracted from a numbeer of individual cases."

THE ADJUSTMENT INVENTORY (Adult Form) :

This is developed by H. M. Bell, Dr. J. B. Verma in connection with his post doctral research made an Indian adoptation and translation, All the items have been retained because they were responded well being general in nature even under Indian conditions. The five areas in this connection are- Home, Health, Social, Emotional and Occupational.

How should be it is interviewed. This schedule was developed by the

investigator with a view to see and analyse how for the adults participating in the adults education programmes have been benefitted in a variety of wages. This schedule contains 40 items in the forms of questions, simply because defenite responses on each items may be collected with a view to further analyse the participants way of thinking and behaving and their standards of living. In this scene, this schedule was divided into two parts :

Part-I Collected informations about the conditions in general includ ing the center which the subjects attended.

Part-II Contained such items which reflected how much in the adults who have attended such programmes scan read, write and count and calculated.

In this connection hymn's Rigvedas, Mandal 10 and Sukta 191 -

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे सं नो वसून्या भर।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानो मन्त्र समितिः समानी समानं मनः सह चिन्तमैषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषां जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।ऋग्वेद १०.१९१

Integrated is the expression of knowledge, an assembly is significant in unity's united are their minds in the silent dynamism of all possibilities. For you (says the Seer Samvanan) I make use of the integrated expression of knowledge. By virtue of unitedness, and by means of that which remains to be united. I perform action to generate WHOLENESS OF LIFE, (this menas that the consiousness of the letters of his name, reverberating in the form of this hymn and producing the cognition, proclaims that consciousness, or the pure nature of life, continues to create newer and newer WHOLENESS - all

the time in one grand WHOLENESS. United be your purpose, harmonious be your feelings, collected be your mind (the phrase collected be your mind' calls for integrated neurophysiological functioning) in the same way as all the various aspects of the universe exists in togetherness, WHOLENESS.

The Bhagwad Gita this topic is also explained -

ततत्क्षाविरभूत्वसाक्षात् श्रीरमाभगवत्परा।
रञ्जयन्तीः दिशः कान्त्या विद्युत्सौदामनी यथा।। -
श्रीमद्भागवतम्८.८.८

Go together, speak together, know your mind to be functioning together from a common source in the some manner as the impulse of Creative Intelligence, in the begining, remain together united near the source.

We can happily the cultivation and propagation of community service with Social forestry. As through social forestry we help the physical environment become more conductive to the physical health of the people. So through community Education we create health Psychological environment in the society. Ignorance is desseases and knowledge health. If we try to educate the entire population of the country we shall have a more powerful and understanding society. Specially for a successful and lively democracy like Indian Education for the masses is a must. It is only the Educated and knowledgable people who can exercise their franchise in a right way.

The Indian siciety is tragically devided into two sharp groups of haves and have's not. The affluent people can afford the higher cost of the education but the general masses struggling only for their livelihood. Simply can not send their children to the schools. Their children themselves for a powerful source of income for the family. That is also another reason that the poor are not motivated to send their children to schools.

Through the advancement of science and technology the whole of the glow is becoming a large village. Soon, we hope that by the mid of the 21st

century the word will come under one banner of government. To Accelerate their realization of one word civilization the masses have to be educated very thouroghly Community Education is not only beneficial for an individual alone, but it is very useful for the whole of the society and humanity at large. If the human civilization has to survive on the globe the people of all community and cultures will have to develop and sense of mutual appreciation, tolerence and peace. It is only in peace time that man's creative spirit can create world civilization and bring about the dawn of new human race.

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका
Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार

उपसम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

गुरुकुल-पत्रिका

शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

सम्पादक

डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग

एवं

निदेशक

श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान

उपसम्पादक

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

जुलाई, अगस्त, सितम्बर	वर्ष	अषाढ़ - भाद्रपद
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक : प्रो० श्याम नारायण सिंह
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - २४९४०४

मूल्य : २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, कनखल फोन 425975

विषय-सूची

श्रुति-सुधा

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेनसिच्यते।
उतोतदद्यविद्याम यतस्तत्परि षिच्यते।। अ० १०/८/२९

पूर्ण परमेश्वर से सम्पूर्ण जगत् का उदय होता है। इस सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण ईश्वर ही जीवन देता है। अत: हम सब उस ब्रह्म को जानें जिससे सकल संसार को जीवन मिलता है।

Forth from the Perfect (Brahma) comes the Perfect (universe). The Perfect (universe) is developed by the Perfect (Brahma). Now therefore may we know him from whom all life is derived.

न तं विदाथ य इमा जजान। ऋ० १०/८२/७
तुम उसको नहीं जानते जिसने इन सबको उत्पन्न किया।
You know him not who created all this.

यस्तन्नवेदकिमृचा करिष्यति।। ऋ०१/१६४/३९
जो उस ब्रह्म को नहीं जानता वह वेद से क्या करेगा।
He who knows him not, what will he avail of the Veda.

एकं ज्योतिर्बहुधा विभाति ।। अ० १३/३/१७
एक ही ज्योति है जो बहुत प्रकार से चमक रही है।
Though one light, He shines in many forms.

एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति ऋ० १/१६४/४६
उस एक सत्ता को विद्वान् लोग नाना नामों से पुकारते हैं।
That one unchangeable being is called by the learned by different names.

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो :।। अ० १०/८/४४
ब्रह्म ज्ञानी मृत्यु से नहीं डरता।।
Knowing him alone he is not afraid of death.

(मेहता रामचन्द्र शास्त्री कृत "वैदिक सूक्तिः" से उद्धृत, पृष्ठ ३ से ५)

सम्पादकीय

इस दृश्यमान जगत् पर विचार करने से कुछ चीजें निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होती हैं जिन पर समस्त दार्शनिकों ने चिन्तन किया और ईश्वर, प्रकृति और उसके उपभोक्ता जीव के विचार तक पहुँचे, परन्तु इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य चीजें अपेक्षित हैं जैसे दिशा, काल आदि। दिशा किसी की अपेक्षा से होती है और जब कोई भी दृश्यमान पदार्थ अपने स्थान पर स्थिर न हो, सर्वत्र गतिमान् परमाणु ही हों तो उस अवस्था में दिशा-निर्धारण करना असंभव ही है। क्योंकि उस समय कोई स्थिर पदार्थ नहीं था।

इसी प्रकार जब हम एक दूसरे पदार्थ काल (पृथिव्यप्तेज ..... काल दिगात्ममनांसि नवैव, तर्कसंग्रह) पर विचार करते हैं तो यह किसी की अपेक्षा से नहीं होता हाँ इसके अंश भूत, भविष्यत् और वर्तमान किसी की अपेक्षा रखते हैं। यह काल सृष्टि के पूर्व भी था और सृष्टि के पश्चात् भी रहेगा। यह काल ही सम्पूर्ण सृष्टि अर्थात् विद्यमान जगत् का पिता है। (संवत्सरो वै प्रजापतिः) और यही काल सम्पूर्ण सृष्टि को निगल जाता है और तब इसके रुद्र रूप को देखते हुए इसे ही महाकाल कहा गया। संभवतः रुद्र का विनाशकारी ताण्डव और उसका महाकाल नाम इसी से सार्थक हैं। दूसरे शब्दों में विचार करें तो सम्पूर्ण सत्व में गतिमय परमाणु ही उस रुद्र का नृत्य है जो विखरता है तो विनाश का रूप हो जाता है। चिन्तकों ने इस काल के जो सूक्ष्म भेद प्रभेद किये वे सब तो औपचारिकता मात्र हैं। यह काल अनादि और अनन्त है इसलिए यह ब्रह्म का एक रूप है।

जब व्यक्ति अपने इस शरीर को छोड़कर अनन्त की ओर चलता है उसके ये जीवन, काल में कुछ पड़ाव ही होते हैं। जब व्यक्ति उस काल के लिए उद्यत होता है और उसे परमात्मा की इच्छा मात्र मान लेता है, अपने को उसके प्रति समर्पित कर देता है, यही उस काल पर विजय है। इस काल के विजेताओं में कुछ नाम अमिट हैं, जिन्हें इच्छामृत्यु कहा गया है। चाहे वे भीष्म हों या दयानन्द, उनकी अमिट छाप इस काल पर भी विद्यमान रहेगी। उन कालजयी लोगों को शतशः नमन पूर्वक ....

(भारत)
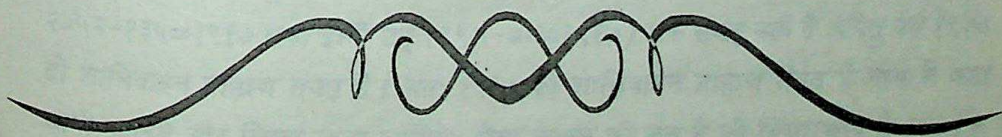
शक संवत् या शालिवाहन संवत्[१]?

दिनेश मिश्र, एम.ए. साहित्यरत्न

आज जो १९९७ को शक संवत् के नाम से पुकारा तथा व्यवहार में लाया जाता है वह शक संवत् नही हैं अपितु वह तो ७८ ई० में शकों के प्रसिद्ध शक सरदार क्षत्रप नहपान का सर्वनाश करने वाले तथा उसके निम्नलिखित प्रदेशों :-

१. अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), २. अनूप (नीमाड), ३. सुराष्ट्र (सौराष्ट्र), ४. कुकुर (उत्तरी काठियावाड), ५. अकर (पूर्वी मालवा), ६. अवन्ति (पश्चिमी मालवा) को जीत करके अपने साम्राज्य में मिलाने वाले ईस्वी सन् ७० से ई० सन् ९५ तक शासन करने वाले भारद्वाज गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण सातवाहन वंश जिसे शालिवाहन वंश के नाम से भी जाना जाता है ब्राह्मण वंश में उत्पन्न गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने वंश के नाम पर चलाया था। अत: वह शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है, शक संवत् नहीं है।

अत: अनुरोध के साथ नम्र निवेदन है कि इतिहास के प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों द्वारा लिखित एवं इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राप्त तथा मेरे द्वारा प्रदत्त तथ्यों के आधार पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के उपरान्त, अनुचित रूप में व्यवहृत इस शक संवत् को उसके वास्तविक नाम शालिवाहन ब्राह्मण संवत के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

किन्हीं भी प्राचीन तथ्यों का निरूपण एवं निर्धारण करने के लिये हमारे पास सर्वप्रथम १. इतिहास के उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, तदनन्तर २. प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं लिखा गया उसका प्राचीन रूप है, तदनन्तर ३. परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियाँ।

आज जिस १९१७ को शकसंवत् के नाम से पुकारा एवं व्यवहार में लाया जाता है वह संवत् शकों का नाश करने वाले वीर शकारि विक्रमादित्य के संवत् २०५२ से १३५ वर्ष पीछे (२०५२-१३५=१९१७) तथा ईस्वी सन् १९९५ से ७८ वर्ष पीछे (१९९५-७८=१९१७) है। अर्थात् वह ७८ ई० में प्रारम्भ हुआ था।

१- शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला तथा लिखा जाने वाला संवत् १९१७ (विक्रमसंवत् २०५२-१३५=१९१७ तथा ईस्वी सन् १९९५-७८=१९१७) शक संवत् नहीं है अपितु यह १९१७ तो शालिवाहन ब्राह्मण संवत् है। अत: १९१७ को शालिवाहन ब्राह्मण संवत् के नाम से कहा जाना चाहिये और लिखा जाना चाहिये- ऐसा लेखक का मत है जो विचारणीय है (सं०)।

ऐसी स्थिति में हमें यह देखना होगा कि ७८ ई० में भारत में कौन कौन राजा राज्य करते थे। इस तथ्य को जानने हेतु इतिहास के विद्वानों द्वारा लिखित इतिहास के उच्चकोटि के ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ेगा।

इतिहास के कुछ प्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वानों ने यथा १. डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० रायचौधुरी डा० के०के० दत्ता ने अपने इतिहास के प्रसिद्धग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग १ में, २. डा० रतिभानु सिंह नाहर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ-प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में, ३. बाबू वृन्दावन दास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ - प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य में तथा ४. श्री बी.एन. लुणिया ने अपने अपने ग्रन्थ प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास में तथ्यों का निरूपण करते हुए भी उनके ईस्वी सन् अथवा संवत् का निर्धारण नहीं किया है। किन्तु इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान एवं पंजाब यूनीवर्सिटी कालेज नई दिल्ली के इतिहास विभाग के भूतपूर्व प्राध्यापक ५. डा० विद्याधर महाजन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का इतिहास" के पृष्ठ ३४१, ३४२ एवं ३४३ पर लिखते हैं कि :-

सातवाहन वंश का अगला महत्वशाली राजा था *गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी और उसने लगभग ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया।* पृष्ठ ३४१ गौतमपुत्र श्री शातकर्णी को शकों यवनों और पहलवों का विनाशकर्ता कहा गया है। उसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के वंश क्षहरात वंश का अन्त किया। उसने अपरान्त, अनूप, सुराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति नहपान से जीत लिये (पृष्ठ ३४२)। *वह विक्रम संवत् का भी प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था।* (पृष्ठ ३४३)

६. इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् तथा महाराजा कालेज छतरपुर (म०प्र०) के इतिहास विभाग के प्राध्यापक श्री एस०के० माथुर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का इतिहास" जिसकी प्रशंसा डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष इतिहास राजनीति विभाग आगरा कालेज आगरा ने, प्रो० एस०डी० कापसे अध्यक्ष इतिहास विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुरी ने डा० के०एन०से० अध्यक्ष, इतिहास विभाग, शासकीय महाविद्यालय देवास (म०प्र०) ने डा० इन्द्रकान्त द्विवेदी इतिहास विभाग, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय रायपुर (म०प्र० रायपुर विश्वविद्यालय) ने तथा **Dr. Charles, A Johonsen, Director, United State Information Service Bombay** ने मुक्त कण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की है, के पृष्ठ २६२ पर लिखा है कि :-

गौतमी पुत्र शातकर्णी - यह सात वाहन वंश का सबसे अधिक प्रसिद्ध शासक था जिसने ७० ई० से ९५ ई० तक राज्य किया। इसने शकों, यवनों और पहलवों के छक्के छुड़ा दिये। इसने शक सरदार क्षत्रप नहपान के क्षहरात वंश का अन्त कर दिया। इसके बाद नहपान से अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर और अवन्ति का प्रदेश जीत लिया। .....उसका राज्य उत्तर में मालवा, काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक पूर्व में बरार तथा पश्चिम में कोंकण तक विस्तृत था।

इतिहास के निम्नलिखित विद्वानों ने गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी का यद्यपि समय निर्धारण नहीं किया है फिर भी तथ्यों का निम्नलिखित रूप में प्रतिपादन किया है।

बाबू वृन्दावन दास अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य" के पृष्ठ २३० पर लिखते हैं "गौतमीपुत्र सातवाहन सम्राट शातकर्णी ने नहपान को मारकर उसके वंश का उन्मूलन कर दिया शक आक्रान्ताओं की शक्ति को नष्ट करने का प्रधान श्रेय सातवाहन वंश के प्रतापी सम्राटों और मालव आदि गणराज्यों को है।"

डा० रतिभानु सिंह नाहर अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास" के पृष्ठ ३०७ पर लिखते हैं कि :-

"जोगलथम्बी से चांदी के सिक्कों की जो निधि प्राप्त हुई है उनमें बहुत से ऐसे सिक्के मिले हैं जिन पर नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र की राजमुद्रा अंकित है, जिससे स्पष्ट होता है कि क्षहरातराज नहपान को उसने पराजित कर दिया था। "(सिक्के पर पहिले से अंकित शासक के नाम के ऊपर अपना नाम अंकित कराना वीरता एवं विजय का सूचक है तथा पहिले सिक्के को गलाकर नया सिक्का ढालने की अपेक्षा अधिक कठिन है)।

श्री बी०एन० लुणिया अपने ग्रन्थ "प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पृष्ठ २५५ पर लिखते हैं कि :- सातवाहन वंश का सबसे महाप्रतापी एवं पराक्रमी सम्राट् और प्रसिद्ध शासक गौतमी पुत्र शातकर्णी था। उसने अपरान्त, अनूप, सौराष्ट्र, कुकुर, अकर, अवन्ति राज्यों को जीतकर सातवाहन साम्राज्य को विस्तृत किया। महाराष्ट्र के शक शासक नहपान को पराजित करके शकों का उन्मूलन किया।

डा० आर०सी० मजूमदार, डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता अपने इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास, भाग-१ के पृष्ठ १०० पर लिखते हैं कि:-

ऊपरी दक्षिण एवं पश्चिमी भारत के एक भाग के क्षत्रप क्षहरात जाति के थे जो

सम्भवत: शकों की एक शाखा थी। उन्होंने प्रारम्भिक सातवाहन साम्राज्य के भग्नावशेष पर एक राज्य स्थापित किया और वह नहपान के अधीन बहुत शक्तिशाली हुआ किन्तु गौतमीपुत्र शातकर्णी ने उन्हें हरा दिया और सातवाहन कुल के यश की फिर से प्रतिष्ठा की।

आन्ध्र सातवाहन वंशी राजाओं का इतिहास, इतिहास के विद्यार्थियों के लिये कोई नवीन विषय नहीं है। डॉ० डी०आर० भण्डारकर के अनुसार उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में है जिसकी रचना ५०० ई० वर्ष से पहिले की गई थी। डा० स्मिथ पुराणों में दी गई जानकारी स्वीकार करते हैं कि आन्ध्रों ने ४६० वर्ष राज्य किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार सातवाहन आन्ध्रों के राज्य करने की अवधि ४६० वर्ष, ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार ४५६ वर्ष, वायु पुराण के अनुसार ४११ वर्ष निर्धारित की गई है। -बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३९

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आने वाले यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने लिखा है कि आन्ध्रसातवाहन लोग गोदावरी और कृष्णा नदी के मुहानों पर रहते थे। वे अपनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। केवल चन्द्रगुप्त मौर्य ही उनसे अधिक शक्तिशाली था। आन्ध्र प्रदेश में ३० नगर थे जो दीवारों से घिरे हुए थे। उनकी सेना में १००,००० एक लाख पैदल सैनिक, २००० दो हजार घुड़सवार और १००० एक हजार हाथी थे। उनकी राजधानी श्री काकुलम थी जो कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित थी। बी०डी० महाजन पृष्ठ ३३८

अशोक मौर्य की २३६ ई पू० मृत्यु हो जाने पर मौर्य साम्राज्य के अधीन राजा स्वतन्त्र होने लगे थे जिनमें सातवाहनवंशी आन्ध्र शासक तथा कलिंग के शासक प्रमुख थे। इसी सातवाहन वंश परम्परा में गौतमपुत्र श्री शातकर्णी एक महान पराक्रमी शासक उत्पन्न हुआ जिसने ६० ई० से ९५ई० तक शासन किया। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसने *"त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन:"* अर्थात् दक्षिण देश के तीनों समुद्रों, बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और भारतीय महासागर के जल को पीने वाले वाहन अर्थात् सेना का स्वामी की उपाधि धारणा की थी। उसे *"खत्तियदपमानदमनस सकयवन पहलवनिसूदनस ... खरवरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपति थापनकरस।"* अर्थात् क्षत्रिय के दर्प और मान का दमन करने वाला..... कहा गया है। इतिहास में उस समय किसी विशेष क्षत्रिय के शासन का परिचय प्राप्त नहीं होता जबकि शक क्षत्रपों में :-

१. पश्चिमोत्तर भारत और पंजाब का शक राज्य, राजधानी तक्षशिला, शासक माओज
२. मथुरा का शक राज्य, राजधानी मथुरा, शासक हमामस, शोडास

३. महाराष्ट्र का शक राज्य, दक्षिणी भारत प्रधान महाराष्ट्र, शक क्षत्रप क्षहरात नहपान

४. उज्जैन का शक राज्य, राजधानी उज्जैन, शासक चष्टन

५. कापिस (अफगानिस्तान) का शक क्षत्रप, राजधानी कापस, शासक शिवसेन

पांच प्रधान शक साम्राज्य थे। ऐसी स्थिति में ''खत्तिय'' शब्द का अर्थ क्षत्रिय के बजाय क्षत्रप अर्थ करना होगा -अर्थात शक क्षत्रपों के दर्प और मान का दमन करने वाला, शक यवन और पह्लव वंशों का निषूदन अर्थात् नष्ट करने वाला गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी था।

इतिहास के विद्वानों के अब तक कथन के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७०ई० में सिंहासन पर बैठा और ९५ ई० तक २५ वर्ष राज्य किया। वह विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। उसका निकटतम शक्तिशाली शत्रु क्षहरात वंश का शक क्षत्रप नहपान था। नहपान का राज्य भी एक विशाल एवं विस्तृत राज्य था। नहपान के वंश को समूल नष्ट करके गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने उसके विशाल एवं विस्तृत राज्य के बड़े भाग को अपने राज्य में मिला लिया था।

सातवाहन वंशी (शालिवाहन वंशी) राजा गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने ७० ई० में सिंहासन पर बैठते ही ऐसे शक्तिशाली एवं विशाल साम्राज्य वाले शक क्षत्रप नहपान को हराने के लिये एकदम से उस पर आक्रमण नहीं किया होगा अपितु सर्वप्रथम नहपान की शक्ति एवं सेना का पूर्ण अध्ययन किया होगा तदन्तर उसको हराने के लिये उससे अधिक शक्ति एवं सेना का संचय एवं प्रशिक्षण करके अपनी शक्ति एवं सेना की स्थिति को सुदृढ़ किया होगा। इस कार्य में गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को कठोर परिश्रम करना पड़ा होगा तथा पर्याप्त समय अर्थात ६ या ७ वर्ष अवश्य लगा होगा। इस प्रकार ७७ ई० में उसने नहपान पर आक्रमण किया होगा, तब ७७ ई० के अन्तिम समय अथवा ७८ ई० के प्रारम्भ में नहपान को वंशसहित समूल नष्ट करके उसके विशाल एवं विस्तृत साम्राज्य के एक बड़े भाग को अपने साम्राज्य में मिलाया होगा।

गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था। वह स्वयं अपनी गणना का प्रयोग करता था। अतः ७८ ई० में शक्तिशाली निकटस्थ शत्रु शक क्षत्रप नहपान पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त उसने अपने व्यक्तिगत नाम के बजाय अपने वंश ''शालिवाहन'' के नाम पर इस नवीन संवत् को प्रारम्भ किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह ''शालिवाहन'' क्या है ? उन्होंने इसे सातवाहन संवत् न कहकर इसका नाम शालिवाहन संवत् क्यों रखा ? इस सम्बन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध

विद्वानों का स्पष्ट मत है कि :-

"मैसूर राज्य के कन्नड़ भाषी क्षेत्र में बेलारी के आसपास "सातवाहनिहार" नामक सातवाहनों के एक प्रदेश का होना प्रमाणित हुआ है। इस वंश की स्मृति लोकगीतों में प्रसिद्ध "शालिवाहन राजा" की कहानी में सुरक्षित मालूम पड़ती है। इस औपाख्यानिक नायक ने दक्षिण के सम्राटों के एक दीर्घ राजवंश के कई व्यक्तियों के गौरवपूर्ण कार्यों को अपना लिया होगा। -प्राचीन भारत का वृहद् इतिहास भाग-१ पृष्ठ ९७ डा० आर०सी० मजूमदार, डा० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता

सात वाहन शब्द बाद को "शालिवाहन" हो गया तथा उसके अनेक राजाओं ने शातकर्णी पद अपने नामों के साथ लगाया। -भारत की युग यात्रा भाग १. श्री रामचरण विद्यार्थी। पृष्ठ-१४६ ।

सातवाहन को ही कहीं-कहीं "शालिवाहन" लिखा है। -प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य पृष्ठ २३० बाबू वृन्दावन दास

सातवाहन शब्द प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा का रूप है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप "सप्तवाहनः" है अर्थात् सात घोड़े रूपी भिन्न-भिन्न रंगों को धारण करने वाली किरणें हैं वाहन जिसकी अर्थात् सूर्य। यह सूर्य, श्री राम के वंश के आदि पुरूष, दक्ष की पुत्री अदिति के महर्षि मरीचि से उत्पन्न होने वाले १२ आदित्यों में से जिनमें वरूण सबसे बड़े और सूर्य सबसे छोटे थे वाले सूर्य नहीं थे जिनके सम्बन्ध में महाकवि कालिदास ने **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** नामक नाटक के सप्तम अंक में कहा है :-

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणम् ,
भर्तारं भुवनत्रयस्य सुषुवे यद्यज्ञभागेश्वरम् ।
यस्मिन्नात्मभुवो परोऽपि पुरूषश्चक्रे भवायास्पदम् ,
द्वन्द्वं दक्षमरीचि सम्भवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम् ।।

अथवा श्रीमद् भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय, जिसमें श्रीकृष्ण युद्ध से विमुख हुए अर्जुन को ज्ञानकर्म सन्यास योग का उपदेश देते हुए, क्षत्रियोचित्त कर्म करने की प्रेरणा देते हुए समझाते हैं:-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽब्रवीत् ।।

एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप: ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

विवस्वान् - सूर्य, दक्षपुत्री अदिति और महर्षि मरीचि के बारह आदित्य पुत्रों में से एक छोटापुत्र मनु - विवस्वान् का पुत्र तथा इक्ष्वाकु - मनु का पुत्र। विवस्वान् श्री राम के वंश का आदि पुरुष।

किन्तु ये सातवाहन वंशी राजा तो संसार को प्रेरणा एवं जीवन प्रदान करने वाले सूर्य को अपने वंश का प्रवर्तक प्रेरणा देने वाला आदि, उद्‌भव स्थान मानते हैं जिसके सम्बन्ध में कहा गया है :-

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः ।
निरालम्बो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि।
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः।
क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे।।

इसी आधार पर सातवाहन वंशी राजाओं ने अपने वंश का दूसरा इसी का पर्यायवाची नाम शालिवाहन वंश रखा। इसी आधार पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने जो किसी दूसरे के संवत् का प्रयोग नहीं करता था, ७८ ई० में क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके "शालिवाहन संवत्" नाम रखा। यह संवत् शकों पर विजय प्राप्त करने तथा प्रसिद्ध शक वंश का सर्वनाश करने के उपलक्ष्य में चलाया गया था। इसलिये इसके नाम के प्रारम्भ में शाके शब्द और जोड़ दिया गया और इसका पूरा नाम "शाके शालिवाहनस्य संवत्" हो गया।

भारत में प्रचलित कुछ पञ्चागों पर यह "शाके शालिवाहनस्य संवत्" लिखा जाता है।

१. पं० नागरदत्त गणेशदत्त जी ने अपने विक्रम सं० २०२३ के असली लावड के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०२३ *शाके शालिवाहनस्य संवत् १८८८* मुद्रित किया है।
२. पं० रविदत्त शर्मा जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर असली लावड का पञ्चांग विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके शालिवाहनस्य संवत १८९८ मुद्रित किया है।
३. बिसाऊ निवासी पं० भोलाराम शर्मा ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०३३ के पञ्चांग पर विक्रमादित्य संवत् २०३३ शाके १८९८ सन् १९७६-७७ मुद्रित किया है।

४. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के "काशी का शुद्ध पञ्चांग" पर विक्रमादित्य संवत् २०३२ शाके १८९७ मुद्रित किया है।

५. श्री पं० ऋषिकेश पाण्डेय जी ने अपने विक्रमादित्य संवत् २०४६ के "काशी का शुद्ध पञ्चांग" पर विक्रमादित्य संवत् २०४६ शाके १९११ मुद्रित किया है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी पञ्चांगों पर विक्रमादित्य संवत् और शाके शालिवाहनस्य संवत् तथा शाके संवत् शब्दों का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्यसंवत् में षष्ठी विभक्ति के तत्पुरुष समास का सहारा लेकर विक्रमादित्यस्य संवत् अर्थात् विक्रमादित्य का संवत् यह अर्थ किया जायेगा किन्तु शाके शालिवाहनस्य संवत् अथवा शाके संवत् में शाके शब्द में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है और शालिवाहन शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अत: इस शब्द "शाके" का अर्थ स्पष्ट करने के लिये हमें, उस भाषा के व्याकरण और साहित्य का अध्ययन एवं परीक्षण करना आवश्यक होगा जिस भाषा का यह "शाके" शब्द है। यह शाके शब्द संस्कृत का शब्द है जिसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। शक=एक जाति, शाक=शक जाति से सम्बन्धित, राज्य अथवा राजा शाके=शक जाति से सम्बन्धित राज्य अथवा राजा के .... ? इस प्रकार शाके शब्द के निम्नलिखित अर्थ पाणिनि की व्याकरण के आधार पर किये जा सकते हैं :-

१. शाके शालिवाहनस्य - शक जाति में पैदा हुए शालिवाहन का
२. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर शालिवाहन का
३. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के मध्य में शालिवाहन का
४. शाके शालिवाहनस्य - शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का

उपर्युक्त अर्थो में प्रथम अर्थ तो इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि शक ओर शालिवाहन दोनों भिन्न-२ जातियाँ हैं। दूसरा और तीसरा अर्थ भी इसलिये सम्भव नहीं है क्यों कि शक साम्राज्य के प्रारम्भ होने पर अथवा शक साम्राज्य के मध्य में शक संवत् का प्रारम्भ होना सम्भव हो सकता है न कि शालिवाहन संवत् का प्रारम्भ होना।

हाँ चतुर्थ अर्थ होना निश्चित है कि शक साम्राज्य को समाप्त कर देने पर अथवा शक साम्राज्य के समाप्त होने पर शालिवाहन का संवत् प्रारम्भ होना अथवा किया जाना।

संस्कृत व्याकरण के प्रवर्तक महर्षि पाणिनि ने "यस्य च भावेन भाव लक्षणम्" अष्टाध्यायी २-३-३७ सूत्र की रचना की है जिसकी संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान

आचार्य कात्यायन ने व्याख्या की है- ''यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्।'' इस सूत्र से ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' का अर्थ पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि शक साम्राज्य को समाप्त करके शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ किया गया।

अब यह प्रश्न उठता है कि जब यह शालिवाहन संवत् है तो इसे केवल ''शालिवाहनस्य संवत्'' लिख देना ही पर्याप्त था; इसके साथ ''शाके'' शब्द क्यों जोड़ा गया ?

इसका उत्तर यह है कि हम पीछे लिख चुके हैं कि जोगलथम्बी में कुछ ऐसे चान्दी के सिक्के मिले हैं जिन पर प्रारम्भ में तो शक क्षत्रप नहपान की राजमुद्रा है अर्थात् उन सिक्कों को शक क्षत्रप नहपान ने चलाया था, फिर उस नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की राजमुद्रा है जिसका अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट करके, उसके सम्पूर्ण राज्य एवं कोष पर अपना पूर्ण अधिकार करके भी उसके उन सिक्कों को नष्ट नहीं किया अपितु नहपान की राजमुद्रा के ऊपर गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है तथा उसके राज्य एवं राजकोष पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया है। जो एक प्रकार से गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी की विजय एवं वीरता का सूचक है।

यद्यपि इन चान्दी के सिक्कों को गलवा करके फिर से अपने नाम के सिक्के ढलवाना एक प्रकार से आसान कार्य था और एक बार ढले हुए सिक्कों पर फिर से अपना नाम एवं अपनी राजमुद्रा अंकित कराना एक बहुत कठिन कार्य, किन्तु नहपान के सिक्कों को गलवा कर फिर से अपने नाम एवं अपनी राजमुद्रा वाले सिक्कों को ढलवाने से गौतमीपुत्र शातकर्णी की वह वीरता तथा नहपान की हार सूचित न होती जो गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी की वीरता और शक क्षत्रप नहपान की पराजय नहपान के नाम एवं राजमुद्रा वाले सिक्कों पर गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी के नाम एवं राजमुद्रा के अंकित करने से सूचित होती है।

इसी प्रकार '' शालिवाहनस्य संवत्'' के पूर्व ''शाके'' शब्द को जोड़ना इस बात का सूचक है कि गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपने इस संवत् को अपने निकटतम महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान के वंश का समूल उन्मूलन करके उसके विशाल साम्राज्य के एक बड़े भाग पर अधिकार करके, उसके राजकोष आदि पर अधिकार करके उस विजय के उपलक्ष में चलाया था। इसलिये उसने ''शाके'' शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना आवश्यक समझा। यह शाके शब्द इस बात को एकदम से इस बात को मस्तिष्क में उत्पन्न कर दे कि शालिवाहन का यह संवत् शकों को जीत लेने के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया गया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि ''शाके'' शब्द जोड़ना आवश्यक ही था तो इसको पूर्ण रूप में ''शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्'' इतना करना चाहिये था जिससे अभिप्राय शीघ्रता से समझ में आता।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि वह युग संस्कृत का युग था। संस्कृत के विद्वान् मानते हैं कि अपनी बात को कहने में, अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने में जितना कम उच्चारण करना पड़े तथा जितने कम शब्दों का प्रयोग करना पड़े उतना ही श्रेयस्कर है। संस्कृत के विद्वान् तो उच्चारण में अथवा लेखन में ''अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः'' अर्थात् उच्चाारण और लेखन में यदि आधी मात्रा भी कम करने से अभिप्राय पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है संस्कृत के वैयाकरणों को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र के उत्पन्न होने से होती है। उस समय अपनी बात को संक्षेप में अर्थात् सूत्र रूप में कहने का प्रचलन था। सूत्र का लक्षण है:-

अल्पाक्षरं असन्दिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम्।

अस्तोमं अनवद्यं ''सूत्रं'' सूत्रविदो विदुः।। ब्रह्म सूत्र पर भाष्य मध्व १/१/१

संक्षेप का स्वरूप :- अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवमिव मन्यन्ते वैयाकरणाः।

इस उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जब ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' कहने से अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है तो ''शाके समाप्ते शालिवाहनस्य संवत्'' इतना लम्बा वाक्य कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

अब एक प्रश्न और उत्पन्न होता है कि शक जाति और शालिवाहन जाति दोनों एक दूसरे की न केवल विरोधी थी अपितु कट्टर शत्रु भी थी, दोनों का एक साथ उच्चारण करना, अर्थ निर्धारण करने में कठिनाई एवं सन्देह उत्पन्न कर देता है। अतः दोनों को एक साथ नहीं कहना चाहिये था।

इस सम्बन्ध में इतना कहना है कि दो विरोधी शक्तियों का एक साथ उच्चारण करने से यह निश्चित हो जाता है कि दोनों समकालीन थे। यथा राम रावण, कंस और कृष्ण। इसके अर्थ करने में भी सुविधा हो जाती है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य मम्मट ने अपने उच्चकोटि के प्रसिद्ध एवं एक प्रकार से निर्णायक ग्रन्थ काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में अर्थ निर्धारण करने में सहायक तत्वों को बताया है कि :-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।।

अर्थ निर्धारण करने में साहचर्य निरन्तर का साथ होना तो सहायक है ही किन्तु विरोधिता- निरन्तर का विरोध अर्थात् कट्टर शत्रुता भी सहायक होती है। यथा ''रामलक्ष्मणौ'' कहने से राम और लक्ष्मण दोनों भाई हैं इसलिये रामलक्ष्मणौ का अर्थ दशरथ के पुत्र होता है, किन्तु ''रामार्जुनौ'' राम और अर्जुन कहने से दोनों एक दूसरे के शत्रु होने के कारण राम-परशुराम और अर्जुन-सहस्रार्जुन का बोध होता है। इसी प्रकार शाके शालिवाहनस्य संवत् कहने से एक दूसरे के निरन्तर विरोधी एवं कट्टर शत्रु होने से शाके शक राजाओं के तथा शक साम्राज्य के (समाप्त कर देने पर), शालिवाहनस्प शालिवाहन अर्थात सातवाहन वंशी राजाओं का, संवत् विजय के उपलक्ष्य में प्रारम्भ किया हुआ वर्ष का ज्ञान होता है। अत: शाके शालिवाहनस्य संवत् इतना वाक्य कहा जाना अनिवार्य है।

अत: यह शाके शालिवाहनस्य संवत् ''सातवाहन वंश (शालिवाहन वंश) में उत्पन्न शक्तिशाली सम्राट गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान को ७८ ई० में समूल नष्ट करके, उसके साम्राज्य के बड़े भाग पर अधिकार करके ७८ ई० में (१३५ विक्रमी संवत् में) विजय के उपलक्ष में प्रारम्भ किया था।

कुछ विद्वान् अपनी विद्वत्ता का समुचित प्रयोग न करके सामान्य जनता में ऐसी निर्मूल भ्रान्तियां उत्पन्न कर देते हैं जिनका निराकरण करना अथवा समाधान करना एक कठिन कार्य हो जाता है। यथा कुछ विद्वान् अपने कुतर्कों द्वारा जनता में यह भ्रान्ति उत्पन्न करते हुए सुने गये हैं कि महर्षि वाल्मीकि जी द्वारा रचित आदि महाकाव्य रामायण एक कपोल कल्पित महाकाव्य है। इसके पात्र श्री राम आदि कल्पित हैं। यह भारतीय संस्कृति पर एक भयंकर कुठारघात है।

इसी प्रकार भारत के प्राचीन गौरव को तथा भारतीय वीरों के महत्व को समाप्त करने पर तुले हुए कुछ विद्वान् अनेक निराधार मनगढन्त बातें धड़ कर भारत के प्राचीन गौरव का महत्व विदेशी व्यक्तियों को देने लगते हैं जिससे भारतीय पराक्रम और वैभव की क्षति होती है। यथा भारतीय इतिहास में चार विक्रमादित्य हुए हैं और वे चारों शक ही थे। शक शासकों के विनाशकर्त्ता शकारि, सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा चलाये हुए विक्रम संवत् को भी कुछ विद्वान् शक शासकों द्वारा चलाया हुआ संवत् मानते हैं यथा :-

मोया अथवा योगा पहला शक शासक था .....उसकी तिथि निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। विद्वानों ने १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक (२८९ वर्षो के मध्य) अनेक तिथियां निश्चित की हैं। मोआ के उत्तराधिकारी आजेस प्रथम और द्वितीय हुए। आजेस प्रथम ने ही शायद पूर्वी पंजाब को जीता। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० प्रारम्भ हुआ उसी न चलाया था। **भारत का राजनैतिक एवं**

सांस्कृतिक इतिहास - पृष्ठ १३४, डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव तथा डा० सत्यनारायण दूबे

जिस व्यक्ति के शासनकाल में १३५ ई० पू० से लेकर १५४ ई० तक का अर्थात् २८९ वर्षों का अनिश्चित काल का अन्तर हो उस व्यक्ति के किसी उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में यह सम्भावना व्यक्त करना कि उसने ५८ ई० पू० में कोई (निश्चित विक्रम) संवत् प्रारम्भ किया है कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् को प्रारम्भ करने का श्रेय शालिवाहन वंशोद्भव गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को न जाय इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों ने निर्मूल एवं निराधार अनेकों भ्रान्तियां उत्पन्न कर दी हैं यथा :-

उज्जैन का शक शासक चष्टन था। इसने अपने पराक्रम से राजपद प्राप्त करके उज्जैन में क्षत्रप राज्य को स्थापित किया। *कई विद्वानों का मत है कि इसी शासक ने ई० सन् ७८ में शक संवत् प्रारम्भ किया। लेकिन अन्य विद्वान "कनिष्क" को इसका श्रेय देते हैं।*

प्राचीन भारत का इतिहास- पृष्ठ २६८, एस.के. माथुर

कनिष्क का राज्यारोहण- वीमकडफिस की मृत्यु के पश्चात् कनिष्क कुषाण साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। *उसके राज्यारोहण के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। लेकिन मतभेदों के आधार पर* फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस तथा रेप्सन आदि ने निष्कर्ष निकाला है कि कनिष्क प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने वह संवत् चलाया जो ७८ ई० से प्रारम्भ होता है। जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्राचीन भारत का इतिहास-पृष्ठ २७२, एस.के.माथुर

कनिष्क कुषाणवंश का महानतम सम्राट था। .....*उसकी तिथि के विषय में भी विद्वानों में गहरा मतभेद है।* टोमस तथा रेप्सन आदि विद्वानों का मत है कि वह प्रथम शताब्दी ई० में हुआ और उसी ने ७८ ई० से संवत् चलाया जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास; पृष्ठ १३६,
डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

कुषाण जाति के सरदार कुजुल कैड फाइसिस प्रथम ने २५ ई० के लगभग कन्धार (अफगानिस्तान) और पंजाब के कुछ प्रदेश अपने वश में कर लिये। कुजुल का पुत्र वेम कैडफाइसिस भी बड़ा पराक्रमी था। .....*उसके बाद १२८ ई० में कनिष्क राज्याधिकारी हुए।* -प्राचीन भारत में हिन्दूराज्य पृष्ठ २४५, बाबू वृन्दावनदास।

कनिष्क ने ७८ ई० में एक संवत् चलाया जो शकनृपकाल के नाम से विख्यात हुआ

संवत् के शक नाम होने का कारण यह हो सकता है कि भारतीय विद्वान् शायद कनिष्क को शक मानते थे। ..... *कुछ विद्वान् कनिष्क के राजगद्दी पर बैठने का समय १२५ ई० निश्चित करते हैं।* परन्तु अल्बेरूनी ने ऐसा कोई संवत् नहीं सुना था जो दूसरी शती में चला हो।

भारत की युग यात्रा भाग १, श्री रामचरण विद्यार्थी

कनिष्क की तिथि- कनिष्क की तिथि-निर्धारण की समस्या प्राचीन भारत के इतिहास की जटिलतम समस्याओं में से एक है। यह अत्यन्त विवाद ग्रस्त प्रश्न है कि कनिष्क का शासन काल कब से कब तक था। .....डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ने दोनों कदफिसीजों से पहले शासन किया और उसने उस संवत् का प्रचलन किया जो कालान्तर में विक्रम संवत् के नाम से विख्यात हुआ- पृष्ठ ३३८, ...फर्गूसन, ओल्डेन वर्ग, टामस, बनर्जी, रेप्सन तथा अन्य कई विद्वानों के अनुसार कनिष्क ने ७८ सन् ई० वाले संवत् की स्थापना की जिसका नाम बाद में शक संवत् पड़ा। *परन्तु इस मत को दुब्रोआ नामक विद्वान् ने स्वीकार नहीं किया।* पृष्ठ ३३९। दुब्रोआ महोदय का कथन है कि मार्शल ने तक्षशिला में चिरस्तूप में एक लेख की खोज की है जिसमें १३ तिथि पड़ी है जो विक्रम संवत् के ७९ ई० सन् से मेल खाता है। उसमें जिस राजा का उल्लेख किया गया है वह कदाचित् कदफिसीज प्रथम है। *कनिष्क तो निश्चित रूप से नहीं है।* -पृष्ठ ३३९। प्रोफेसर दुब्रोआ का कथन है, स्टेनकोनोव ने यह दिखला दिया है कि तिब्बती और चीनी लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि *कनिष्क ने द्वितीय शताब्दी में शासन किया।* स्टेनकोनोव ने यह भी दिखलाया है कि *कनिष्क संवत् के अभिलेखों और शक संवत् के अभिलेखों का तिथिक्रम एक सा ही नहीं है।* पृष्ठ ३४०। मार्शल स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा *अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार कनिष्क का शासनकाल लगभग १२५ ई० पूर्व अथवा १४४ ई० सन् (२६९ वर्षों का अन्तर) के प्रारम्भ में हुआ।* ..... डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि जिस संवत् की कनिष्क ने स्थापना की थी वह २४८ सन् ई० का त्रैकुटक कलचुरि-चेदि संवत् था। पृष्ठ ३३९। प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास डा० रतिभानुसिंह नाहर।

अनेक विद्वान् ७८ ई० सन् के संवत् को चलाने का श्रेय इसी (कनिष्क) को देते हैं। यह एक मात्र भारतीय संवत् है। .....इसमें सन्देह नहीं है कि कनिष्क कुषाण था न कि शक। किन्तु ७८ ई० वाले संवत् की उत्पत्ति के विषय में निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। प्राचीन भारत, भारत का वृहद इतिहास भाग-१, पृष्ठ १०१, १०२ डा० आर.सी. मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी, डा० के०के० दत्ता।

कनिष्क के सिंहासनारोहण के विषय में निम्नांकित मत प्रचलित हैं :-

१. फ्लीट ५९ ई० पू०, २. रैप्सन ७८ ई०, ३ स्मिथ १२० ई, ४. डा० आर०सी० मजूमदार २८९ ई०, ५. भण्डारकर २७८ ई०।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग 1, पृष्ठ 136, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, डा० सत्यनारायण दुबे।

इनके अतिरिक्त एक और संवत् का पता चलता है जिसका प्रयोग महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज चौहान के जन्म के सम्बन्ध में किया है, जो निम्न प्रकार है:-

"एकादह से पंचदह विक्रम साक अनन्द, तिहिरिपु जयपुर हरन को भये पृथिराज नरिन्द।"

एकादह -एकादश से अधिक पञ्चदह-पञ्चदश अर्थात् १११५ विक्रम अनन्द सक संवत् को पृथ्वीराज चौहान का जन्म हुआ। यह कौन सा संवत् है यह किसने चलाया यह पता नहीं। यह संवत् न तो शकारि वीर विक्रमादित्य के संवत् से मेल खाता है क्योंकि संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयानक के द्वारा रचित "पृथ्वीराज विजय" नामक काव्य में पृथ्वीराज का जन्म विक्रमी संवत् १२२३ दिया है। न ही ईस्वी सन् से मेल खाता है क्योंकि ई० सन् विक्रमी संवत् से ५७ वर्ष पीछे है अर्थात् १२२३-५७=११६६ होना चाहिये न ही शालिवाहन संवत् से मल खाता है जो विक्रमी संवत् से १३५ वर्ष पीछे अर्थात १२२३-१३५=१०८८ होना चाहिये था। यदि हम किसी प्रकार शालिवाहन संवत् स्वीकार करें भी तो शालिवाहन संवत् में ७८ वर्ष जोड़ देने पर १११५+७८=११९३ ई० सन् में पृथ्वीराज का जन्म बैठता है जबकि ११९२ ई० में तराइन के युद्ध के मैदान में मुहम्मद गौरी के साथ युद्ध करते हुए पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु हो गई थी। अत: चन्दबरदाई द्वारा पृथ्वीराजरासो में उल्लिखित पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५ कौन सा संवत् है यह पता नहीं चलता। यद्यपि विद्वान् लोग अनेक प्रकार से इसका समाधान करते हैं फिर भी वे किसी एक निष्कर्ष पर एक मत अथवा सहमत नहीं है।

यह बात कितनी विचित्र होने के साथ-२ आश्चर्यजनक भी है कि कुछ विदेशी विद्वान् भारतीय वीरों के श्रेष्ठ कार्यो का श्रेय विदेशी आक्रामकों को देने में तथा भारतीय वीरों के महत्व को कम करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। प्रमाण स्वरूप डा० फ्लीट का कथन है कि कनिष्क ने ५९ ई० पूर्व में शक संवत् को प्रारम्भ किया था जो बाद में विक्रमसंवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। डा० फ्लीट का मत है कि कनिष्क ५९ ई० पूर्व में सिंहासन पर बैठा था। दूसरे विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि मोआ अथवा योगा प्रथम शक शासक था जिसने १३५ ई० पूर्व से लेकर १५४ ई० तक २८९ वर्षों के मध्य कभी (पता नहीं कब) राज्य किया है।

मोआ का उत्तराधिकारी आजेस प्रथम था जिसने शायद पूर्वी पंजाब को जीता था। यह विक्रम संवत् जो ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होता है इसी ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से प्रमाण सहित खण्डन करते हैं।

इसी प्रकार इस शालिवाहन संवत् का श्रेय कुछ विद्वान् वीर श्रेष्ठ शालिवाहन को न देकर उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन को देते हैं। उनका मत है कि इस संवत् को तो उज्जैन के शासक शक क्षत्रप चष्टन ने चलाया था। अन्य विद्वान् इस मत का पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् फर्ग्यूसन, ओल्डेन वर्ग, टॉमस तथा रेप्सन आदि का कथन है कि ७८ ई० में प्रारम्भ होने वाले इस संवत् को कनिष्क ने चलाया था जो आगे चलकर शक संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् दुब्रोआ, स्टेनकोनोव, स्मिथ तथा डा० आर०सी० मजूमदार डा० एच०सी० राय चौधुरी तथा डा० के०के० दत्ता इसका पूर्ण रूप से खण्डन करते हैं।

ऐसी स्थिति में निश्चित समय वाले भारतीय वीर श्रेष्ठ सम्राट् विक्रमादित्य को विक्रम संवत् का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा आजोस प्रथम को देना तथा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को जो निश्चित रूप से ७८ ई० में शालिवाहन संवत् को चलाने वाला है, शालिवाहन संवत् को चलाने का श्रेय न देकर अनिश्चित काल वाले कनिष्क अथवा चष्टन को देना एक प्रकार से भारतीय इतिहास तथा भारतीय वीरों के साथ पूर्ण रूप से अन्याय करना है।

अधिकतर सामान्य व्यक्ति शासकों की भाषा का अनुकरण करते समय उनकी भाषा का वास्तविक उच्चारण न कर पाने के कारण, मुख सौकर्य के कारण तथा भाषा के भिन्न होने के कारण उसका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता है। कुछ समय पश्चात् परवर्ती सामान्य लोग उसे दूसरे अर्थ में ही ग्रहण करने लगते हैं। यथा किसी विशेष स्थान अथवा मुख्यालय पर आने वाले व्यक्ति से चौकीदार पूछता है कि **Who comes there ?** किन्तु चौकीदार उससे ''हुकम सदर'' कहकर पूछता है। इसी प्रकार यह संवत् भी प्रारम्भ में ''शाके शालिवाहनस्य संवत्'' था, बाद में शाके संवत् हुआ, तदनन्तर शाके हुआ और अब इसका प्रयोग केवल ''शक संवत्'' के रूप में होने लगा है। ऐसी बातों को ही ध्यान में रखकर संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि कालिदास ने कहा है कि:-

पुराणामित्येव न साधु सर्वम् न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

अर्थात् सबकुछ पुराना ही सही है ऐसा कहना ठीक नहीं है और यह कहना भी सही नहीं है कि सब कुछ नया ही ठीक है। विद्वान् लोग परीक्षा करके जो ठीक होता है उसे स्वीकार कर लेते हैं अथवा जिसका जितना भाग ठीक होता है उससे उतने भाग को स्वीकार कर लेते हैं। शेष भाग को छोड़ देते हैं किन्तु मूर्ख लोग तो स्वयं विचार एवं परीक्षा न करके दूसरों के द्वारा कही हुई बातों को ही उसी रूप में मानकर उन पर विश्वास कर लेते हैं।

हाँ इतना निश्चित है कि परीक्षा करने के लिये परीक्षा लेने के योग्य ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके लिये बहुश्रुत, बहुत अध्ययनशील, बहुत अधिक अनुभव का होना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि :

एकं शास्त्रम् अधीयानो न विद्यात् शास्त्रं निश्चयम्।
तस्मात् बहुश्रुतः शास्त्रम् विजानीयात चिकित्सकः।। सु.सू. ७

अर्थात् केवल एक शास्त्र का पूर्ण अध्ययन करने वाला उस शास्त्र से सम्बन्धित सभी विषयों का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो जाता, इसलिये चिकित्सक (विद्वान्) को अपने शास्त्र से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों का पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। क्योंकि यह आयुर्वेद शास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ है इसीलिये यहाँ पर चिकित्सक शब्द का प्रयोग किया गया है। वैसे यह नियम सभी विषयों एवं शास्त्रों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्राप्त एवं प्रदत्त ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार में लाया जाने वाला यह संवत् शक संवत् नहीं है, अपितु यह तो :-

१. शालिवाहन संवत् है।
२. शालिवाहन सातवाहन वंश का दूसरा नाम है।
३. इस संवत् को शालिवाहन (सातवाहन) वंशी सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने अपनी विजय के उपलक्ष्य में प्रचलित किया था।
४. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ७० ई० में सिंहासन पर बैठा था तथा जिसने ९५ ई० तक अर्थात् २५ वर्ष शासन किया था।
५. शालिवाहन (सातवाहन) वंश के सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने ७८ ई० में अपने निकटस्थ शक्तिशाली शत्रु महाराष्ट्र के क्षहरात वंश के शक क्षत्रप नहपान को समूल वंश सहित नष्ट किया था।
६. शालिवाहन सम्राट् गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने शक क्षत्रप नहपान को नष्ट करने के तथा उसके साम्राज्य के बड़े भाग को अपने साम्राज्य में मिलाने तथा विजय के उपलक्ष्य में ७८ ई० में इस संवत् को प्रचलित किया था।

७. गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी अपने से पूर्ववर्ती विक्रम संवत् का प्रयोग नहीं करता था अपितु अपनी गणना के अनुसार स्वयं के वर्षों तथा काल का प्रयोग करता था।

८. शालिवाहन संवत् विक्रम संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् तथा ईस्वी सन् के ७८ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ था।

शालिवाहन (सातवाहन) वंशी राजा ब्राह्मण थे। यथा-

(क) सातवाहन नरेशों ने अपनी अभिलेखों मे अपने को ब्राह्मण कहा है। नासिक के अभिलेखों में गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी के लिये एक ब्राह्मण विशेषण का प्रयोग किया गया है। उनको क्षत्रियों (क्षत्रपों) के दर्प और मान का दमन करने वाला स्वत्तिय (खत्तप) दपमानदमनस तथा शक्ति में परशुराम के तुल्य कहा गया है। इन सब विशेषणों को जब हम एक साथ पढ़ते हैं तो इस बात में सन्देह का कोई कारण नहीं रह जाता है कि सातवाहन लोग ब्राह्मण थे।

प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
पृष्ठ ३०४, डा० रतिभानु सिंह नाहर।

(ख) सातवाहनों के लेखों से सिद्ध होता है कि वे ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक अभिलेख में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी को एक अतुलनीय ब्राह्मण कहा गया है जो पराक्रम में परशुराम के समान था। उसको क्षत्रियों का मद चूर्ण करने वाला भी कहा गया है। प्रोफेसर राय चौधुरी लिखते हैं अनेक कारणों से यह विश्वास किया जा सकता है कि आन्ध्र भृत्य सातवाहन राजा ब्राह्मण थे किन्तु उनमें नाग रक्त का कुछ मिश्रण अवश्य था।

भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भाग-१,
पृष्ठ १२१, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव।

(ग) पुराणों के अनुसार ये (सातवाहन) लोग ब्राह्मण वंश के थे। नासिक के एक लेख से ज्ञात होता है कि सातवाहन राजा गौतमीपुत्र अतुलनीय ब्राह्मण था जो पराक्रम में परशुराम के समान था। इस वंश ने लगभग ४६० वर्ष राज्य किया (२३५ ई० पू० से २२५ ई० तक)।

प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ २६०, श्री एस०के० माथुर।

(घ) सातवाहन वंशी राजा ब्राह्मण थे। अनुश्रुति के अनुसार वे मिश्रित ब्राह्मण नागवंश के थे।

प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य, पृष्ठ २३०, बाबू वृन्दावनदास।

(ड.) वह (गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी) वेदों का आश्रयदाता और सर्वोच्च ब्राह्मण था।

भारत की युग यात्रा भाग-१, श्री रामचरण विद्यार्थी।

गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी एक सुविस्तृत एवं सुविशाल साम्राज्य का स्वामी था। उसने

यह उपाधि ''त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन:'' धारण की थी इसका अर्थ है कि जिसकी विशाल सेना ने पूर्वी समुद्र बंगाल की खाड़ी, दक्षिणी भारतीय महासागर तथा पश्चिमी समुद्र अरब सागर पर्यन्त विजय प्राप्त करके तीनों समुद्रों के जल को पीया है। उसके विशाल साम्राज्य में अपरान्त (बम्बई प्रान्त का उत्तरी भाग), अनूप (नर्मदा का काठा), विदर्भ (बरार), आकर (पूर्वी मालवा), अवन्ति (पश्चिमी मालवा), ऋषिक (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का प्रदेश), अश्मक (गोदावरी का तटवर्ती प्रान्त), मूलक (पैठन का निकटवर्ती प्रदेश), सुराष्ट्र कुकुर (उत्तरी काठियावाड) सम्मिलित थे। संक्षेप में उत्तर में मालवा और काठियावाड से लेकर दक्षिण में गोदावरी तक तथा पूर्व में बरार से लेकर पश्चिम में कोंकण प्रदेश तक के विशाल भूभाग का वह स्वामी था। उसके अधिकार में विन्ध्य (मध्य और पूर्वी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), ऋक्षवत (मालवा के दक्षिण में विन्ध्य पर्वत श्रेणी का एक भाग), पारियात्र (पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पर्वत श्रेणियाँ), सह्य (नीलगिरि की पर्वत श्रेणियों के उत्तर तक पश्चिमी घाट), मलय (त्रियांकुर की पर्वत श्रेणियाँ), महेन्द्र (पूर्वी घाट) और दक्षिणी भारत के प्रायद्वीप को घेरने वाली अन्य अनेक पर्वत श्रेणियाँ थी। संक्षेप में वह विन्ध्य पर्वत के उस पार सम्पूर्ण दक्षिणी भारत का एक मात्र सम्राट् था।

आप जानते हैं कि संसार में प्रचार एक ऐसा सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य जनता को तो क्या समझदार बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषों को भी भ्रम में डाला जा सकता है और डाला जाता रहा है और फिर कुछ समय तक इस प्रकार का सफलता पूर्वक किया हुआ प्रचार सत्यता का रूप धारण कर लेता है जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति तो क्या विद्वान् व्यक्ति भी उसके विरोध में एक शब्द भी सुनना पसन्द नहीं करता अपितु उसके सम्मुख सत्यता का कथन करने पर वह सत्य कथन करने वाले व्यक्ति से लड़ने को तैयार हो जाता है। इसी कारण संसार के सभी देशों में सम्पूर्ण धर्मो में, सम्पूर्ण जनता में एक अन्धविश्वास का जन्म हुआ है। इस प्रकार का प्रचार तत्कालीन शासकों, धर्माधिकारियों एवं सशक्त वर्गो तथा सशक्त जातियों द्वारा अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये किया जाता है। जब कोई विद्वान् उसका विरोध करता है तो उसको कठोर दण्ड, यहां तक कि उसको मृत्यु दण्ड तक दिया जाता है। संस्कृत के विद्वान् महाकवि श्री विल्हण ने अपने महाकाव्य विक्रमाड.कदेव चरितम् के प्रथम सर्ग के २७ वें श्लोक में कहा है:-

लंकापते: संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्र: ।
स सर्व एवादिकवे: प्रभावो न कोपनीया कवय: क्षितीन्द्रै: ।।

अर्थात् लंकापति रावण का जो यश समाप्त हुआ और रघुराज पुत्र श्री रामचन्द्र जो यश के पात्र बने वह सब कुछ आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के प्रचार का प्रभाव है।

इसलिये राजा लोगों को कवियों (प्रचार करने वालों) को कभी भी असन्तुष्ट अप्रसन्न तथा क्रोधित नहीं करना चाहिये।

सम्भवत: महाकवि बिल्हण के उपर्युक्त श्लोक को पढ़कर कुछ लोग अप्रसन्न हों किन्तु वर्तमान काल में उपर्युक्त तथ्य से परिपूर्ण अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा पढ़ने में आया है कि जर्मनी के चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक विद्वान् गैलीलियो ने जर्मनी में प्रथम बार घोषणा की थी कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है (जो पूर्ण रूप से सत्य है तथा जिसकी भारतीय विद्वान् बहुत पहिले घोषणा कर चुके थे) तब जर्मनी के शासकों ने तथा धर्माधिकारियों ने गैलीलियो को दोषी, अपराधी तथा धर्मविरोधी घोषित करके जिन्दा ही जला दिया था। किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रबुद्ध जर्मनी के वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं जनता ने उसको निर्दोष निरपराध तथा धर्म के अनुकूल घोषित किये जाने हेतु जर्मनी के न्यायालय में वाद प्रस्तुत करके उसको निर्दोष, निरपराध एवं धर्म के अनुकूल घोषित कराकर उसको एक वैज्ञानिक विद्वान् के पद पर सम्मानित सदस्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

रूस का प्रसिद्ध शासक मार्शल स्टालिन जो एक जार्जियायी मोची का पुत्र था एक बहुत कठोर प्रकृति का शासक था तथा जिसके सम्बन्ध में मरणासन्न लेनिन ने स्वयं लिखा था कि वह ''स्टालिन'' बहुत बहुत रूखा था और इस आधार पर उसे दल के महासचिव के पद से हटा देने की सिफारिश की थी। उस स्टालिन ने सन् १९३१ में कहा था ''हम उन्नत देशों से पचास या सौ वर्ष पीछे हैं। हमें अपना पिछड़ापन दस वर्षों में दूर करना है। हम ऐसा कर लें वरना वे हमें कुचल देंगे। संयोग वश ठीक दस वर्षों के अन्दर ही रूस पर हिटलर की सेनाओं ने आक्रमण कर दिया। रूस परीक्षा में सफल उतरा। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त में विजय के दिनों में स्टालिन की प्रतिष्ठा जिस सीमा तक बढ़ी थी वह अपूर्व थी। .....रूसी जनता और विश्व की प्रत्याशाओं को पूरा करने की असफलता उसके जीवन की अन्तिम घटना थी। रूस का इतिहास पृ-४३१, जार्ज वर्नादस्की। किन्तु बाद में पढ़ने में आया कि उसकी नीतियों के विरूद्ध प्रचार के फलस्वरूप उसके विराधियों ने उसकी कब्र को खोदकर उसके शव को निकालकर उस पर अनेक आरोप लगाकर उसे दूसरे स्थान पर गाड़ कर एक प्रकार से उसे असम्मानित किया तथा उसकी पुत्री श्वेतलाना रूस से निर्वासित कर दी गई।

१८५७ में अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिये अंग्रेजों के विरूद्ध भारत में क्रान्ति हुई जिसे अंग्रेजी शासन में उनके अनुयायी इतिहास लेखकों ने विद्रोह अथवा गदर का नाम दिया। १९४७ में भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व तक इतिहास के विद्यार्थियों को उसे

विद्रोह अथवा गदर के नाम से पढ़ाया जाता रहा किन्तु १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् उसे "प्रथम स्वतन्त्रता प्राप्ति संग्राम" का नाम दिया गया और इतिहास के विद्यार्थियों को "१८५७ का स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रथम संग्राम" इस नाम से पढ़ाया जाने लगा है।

सातवाहन (शालिवाहन) वंशी शासकों ने २३५ ई०पू० से लेकर २२५ ई० तक ४६० वर्षों तक शासन किया। इस वंश के प्रतापी शासक गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी ने शकों का विनाश करके शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य संवत् को ७८ ई० में प्रारम्भ किया जो संवत् उपर्युक्त परिस्थितियों में परिवर्तित होता हुआ प्रथम तो शाके (विनाशे) शालिवाहनस्य संवत् के स्थान पर "शाके शालिवाहनस्य संवत्", तदनन्तर शाके संवत् तदनन्तर शक संवत् हो गया। जो वास्तविक अभिप्राय एवं स्वरूप के सर्वथा विपरीत है।

सम्पूर्ण ऐतिहासिक एवं साहित्यिक तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए नम्र निवेदन है कि जिस व्यक्ति ने जो श्रेष्ठ कार्य किया है उसका श्रेय उसी व्यक्ति को दिया जाना आवश्यक है। इसलिये

शक संवत् के नाम से पुकारा जाने वाला एवं व्यवहार में लाया जाने वाला यह संवत् शक संवत् नहीं है। यह तो महाराष्ट्र के शक्तिशाली शक क्षत्रप नहपान का उसके वंश का, तथा उसके साम्राज्य का ७८ ई० में सर्वतोमुखी समूल विनाश करने वाले, ७० ई० से ९५ ई० तक एक शक्तिशाली शासक के रूप में शासन करने वाले सातवाहन वंशी (शालिवाहन) ब्राह्मण वंशी गौतमी पुत्र श्री शातकर्णी द्वारा चलाया हुआ शालिवाहन संवत् है।

जिसको गौतमीपुत्र श्री शातकर्णी ने महाराजा युधिष्ठिर के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए युधिष्ठिर संवत् अथवा महाराजा विक्रमादित्य के द्वारा अपने नाम से चलाये हुए विक्रम संवत् की भान्ति अपने व्यक्तिगत नाम से न चलाकर अपने वंश के गौरव को प्रदर्शित करने के लिये अपने वंश "शालिवाहन" के नाम से "शालिवाहनस्य संवत्" के रूप में प्रचलित किया।

अतः पुनः सानुरोध नम्र निवेदन है कि १९१७ (१९९५ ई०-७८=१९१७ अथवा २०५२ वि०सं०-१३५=१९१७) को शक संवत् के नाम से न कहकर तथा व्यवहार में न लाकर "शालिवाहन संवत्" के नाम से पुकारा जाना चाहिये तथा व्यवहार में लाया जाना चाहिये।

पता :
आत्मज पण्डित सुखवीरदत्त मिश्र, शास्त्री,
२१३/मकतूलपुरी, रुड़की, २४७६६७

महर्षि दयानन्द सरस्वती

डॉ0 धर्मपाल

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न और विकसित पुनर्जागरण काल के अनेक आन्दोलन भारतीय इतिहास के अध्येता के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उस समय नैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में सर्वत्र अशान्ति, अस्थिरता तथा अराजकता व्याप्त थी। देश सांस्कृतिक संकट की लपेट में था। लोग अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त थे। देश पराधीन था। यह पराधीनता किंकर्तव्यविमूढ़ता का पर्याय बन गई थी। स्वतन्त्रता, बन्धुत्व तथा एकता जैसे उदात्तभाव किसी के मन में ही न आते थे। भारतीय शिक्षा पद्धति स्वदेशी के प्रति हेय तथा विदेशी के प्रति प्रेम भावों को उद्दीप्त कर रही थी। ऐसे ही युग में महर्षि दयानन्द सरस्वती का इस पुण्य धरा पर आविर्भाव हुआ। उसने विभिन्न क्षेत्रों में धूम मचा दी। भारतीय जनमानस को झकझोर दिया। उसने प्राचीन गौरव तथा स्वअस्मिता और स्वराज्य की अवधारणा से परिचित कराया, सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के केंचुल को उतार फेंकने की प्रेरणा दी, नारी जाति के लिए सम्मान तथा दलितों के लिए सामाजिक न्याय दिलवाने का महतर कार्य किया। उन्होंने स्वधर्म, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का आधार मानकर जनजागृति के क्षेत्र में महान् कार्य किया। उसी महापुरूष का आज जन्मोत्सव है।

जन्म : महर्षि दयानन्द का जन्म गुजरात प्रान्त के मौरवी राज्य के टंकारा नामक ग्राम में फाल्गुन बदी दशमी संवत् १८८१ (१२ फरवरी सन् १८२५) शनिवार को हुआ। उनके पिता का नाम श्री कर्षण जी तिवारी व माता का नाम यशोदा बाई था। उनका जन्म का नाम मूलशंकर था। श्री कर्षण जी तिवारी औदीच्य ब्राह्मण थे तथा शिव के उपासक थे। कुल परम्परा के अनुसार बालक मूलशंकर को ५ वर्ष की आयु में वर्ण शिक्षा का ज्ञान कराया गया। आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उन्हें अनेक मंत्र, स्तोत्र कण्ठस्थ करा दिए गए। उन्होंने १४ वर्ष की आयु तक व्याकरण, यजुर्वेद और अन्य वेदों के कुछ भाग याद कर लिए थे।

शिवपूजा तथा बोध–प्राप्ति : फाल्गुन कृष्ण संवत् १८९५ को शिवरात्रि का पर्व था। पिता के आदेश पर मूलशंकर ने भी शिवकथा महात्म्य सुनने के बाद शिवरात्रि उपवास व्रत रखा। रात को मूलशंकर शिवपूजा और जागरण के लिए, पिता के साथ शिवालय गए।

आधी रात बीत गई तो भक्तजन एक एक करके सोने लगे, परन्तु मूलशंकर जो सत्य और श्रद्धापूर्वक व्रती था, जागता रहा। एक विचित्र घटना हुई, उसकी आत्मा में चकाचौंध बिजली-सी चमक गई। उसकी आत्मा में नव जागृति-सी उत्पन्न हुई। एक चूहा आया, चढ़ावे की वस्तुएं खा गया और उछलकर मूर्ति के ऊपर चढ़ गया। मूलशंकर का विश्वास हिल गया। शिव जी तो पाशुपत अस्त्र से बड़े-बड़े राक्षसों का संहार करते हैं। यह सच्चा शिव नहीं है। उसने पिता को जगाया। पिता को झुंझलाहट हुई पर उन्होंने बालक को बहुत समझाया कि सच्चा शिव तो कैलाश पर्वत पर है, यहां कलियुग में उसका साक्षात् नहीं होता है, यहां पर तो उसकी पूजा आराधना की जाती है। परन्तु मूलशंकर को इन बातों से सन्तुष्टि नहीं हुई। वह चिन्ता से व्याकुल होकर विचार निमग्न हो गया। उसे मूर्तिपूजा में अश्रद्धा हो गई। सच्चे शिव को प्राप्त करने की अदम्य लालसा उसके मन में जाग गई। कुछ दिन बाद उनकी छोटी बहन और उसके कुछ दिन बाद उसके धर्मात्मा चाचा की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने वैराग्य भावना को जन्म दिया। अब उनके दो व्रत हो गए - सच्चे शिव को प्राप्त किया जाए, अमर पद प्राप्त किया जाए। मूलशंकर ने एक दिन घर छोड़ दिया। मूलशंकर को किसी ने बताया कि सच्चे योगी से ही सच्चे शिव और अमर पद प्राप्ति का मार्ग पता चलेगा। उन्होंने बड़े-बड़े योगियों की खोज प्रारंभ कर दी। उन्होंने दीक्षा ली और अपना नाम "शुद्ध चैतन्य" रखा। एक परिचित वैरागी से पुत्र का पता पाकर पिता श्री कर्षण जी तिवारी सिद्धपुर के मेले में पहुंचे और वहां से मूलशंकर को पकड़कर वापिस घर ले आए, पर जिसके हृदय में लगन लगी हो, वह कहां रूकने वाला था। शुद्ध चैतन्य तो संसार को बन्धनों से छुड़ाने आया था वह कहां बंधा रहता। एक दिन अवसर पाकर वह पुनः भाग निकला। बस यही अन्तिम मिलन था पिता और परिवार वालों से।

दयानन्द सरस्वती : बालक मूलशंकर, ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य और फिर आगे दयानन्द सरस्वती इस सतत् यात्रा में उन्होंने कितने कष्ट उठाए होंगे, यह वही जान सकता है जिसने इस दिशा में कभी प्रयास किया हो। उस दृढ़व्रती बालक ने तो यही मार्ग चुना था। अनेक संकटों का सामना करता हुआ, वह बालक युवा ब्रह्मचारी भूख प्यास, गर्मी सर्दी सहन करता हुआ, बीहड़ जंगलों को पार करता हुआ, नर्मदा के किनारे चलकर चाणोद में पहुंचकर स्वामी पूर्णानन्द से मिला। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती ने शुद्ध चैतन्य को उसके आग्रह पर सन्यास की दीक्षा दी। अब उनका नाम दयानन्द सरस्वती हो गया। इधर उधर भ्रमण करते हुए उनका परिचय अनेक योगियों से हुआ। उन्होंने योग विद्या सीखी और कई विद्वानों से अनेक ग्रन्थ भी पढ़े। ऋषि दयानन्द तो वीतराग सन्यासी और आदर्श त्यागी थे। जब ओखी मठ के महन्त ने उनके सामने मठ का उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव रखा

तो उन्होंने कहा था कि "यदि मुझे धन की अभिलाषा होती, तो मैं अपने पिता की संपत्ति को, जो तुम्हारे इस ऐश्वर्य से कई गुना अधिक थी, न छोड़ता।" महन्त के पूछने पर कि वह कौन सी वस्तु है जिसकी खोज में तुम इतने परेशान हो। महर्षि दयानन्द ने उत्तर दिया था - "सच्चे शिव का साक्षात्कार और मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय"। महन्त के पास धन व ऐश्वर्य तो था, पर न सत्य था, न शिव और न मृत्यु से बचने के लिए मोक्ष प्राप्ति के उपाय। वह वहां से भी चल पड़ा। प्रभु की जिस पर कृपा होती है, वह अनेक दुःखों को पार करता हुआ, अपने लक्ष्य तक पहुंच ही जाता है। किसी ने उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द सरस्वती का पता दिया। ज्ञान और योग की इच्छा करने वाले युवा सन्यासी मथुरा पहुंचे और कार्तिक शुक्ल २, संवत् १९१७, (१४ नवम्बर १८६०) को उन्होंने परम् विद्वान् जगद्गुरू विरजानन्द दण्डी की कुटिया का द्वार खटखटाया, अन्दर से आवाज आई "कौन ?" दयानन्द ने उत्तर दिया "यही तो मैं जानना चाहता हूं कि मैं कौन हूं ?" स्वामी विरजानन्द ने जान लिया कि सत्य विद्या का जिज्ञासु, सत्यनिष्ठ शिष्य आया है। पूज्य गुरूवर ने दयानन्द सरस्वती को पाणिनी व्याकरण, पातंजल योगसूत्र तथा संपूर्ण वेद-वेदांग का अध्ययन कराया और चलते समय आदेश दिया - "पुत्र ! विद्या को सफल कर दिखाओ। परोपकार करो तथा सत्य शास्त्रों का उद्धार करो, मत मतान्तरों की अविद्या को मिटाओ। वेदों के प्रकाश से इस अज्ञान रूपी अन्धकार को समाप्त करो। वैदिक धर्म का आलोक सर्वत्र विकीर्ण करो। यही मेरी गुरू दक्षिणा है।"

दयानन्द सरस्वती ने नतमस्तक हो, गुरूवर के आदेश को शिरोधार्य किया - "यह कार्य कठिन है, शक्ति कम, फिर भी आज्ञा सिर माथे पर, आयु पर्यन्त इसके लिये कार्य करूँगा। गुरूवर ने कहा- पुत्र, ईश्वर तेरे पुरुषार्थ को सफल करे। यह मेरा आशीर्वाद है। यह मैं एक अन्तिम शिक्षा देता हूं कि मनुष्य कृत ग्रन्थों में परमेश्वर और ऋषियों की निन्दा है, परन्तु ऋषि कृत ग्रन्थों में नहीं। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।"

आर्य समाज की स्थापना : महर्षि दयानन्द सरस्वती गुरुगृह से निकलर अनेक स्थानों पर गये। उन्होंने हरिद्वार में पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरायी, कर्णवास प्रवास के समय राव कर्ण सिंह की तलवार तोड़कर उस पर दया दिखाई, उदयपुर में स्त्री जाति मातृशक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया, एकलिंग महादेव की गद्दी के प्रति कोई मोह न रखकर वीतराग भाव दर्शाया, अनूपशहर में स्वयं की हत्या करने का प्रयास करने वाले को भी क्षमा दान दिया, अम्बादत्त वैद्य और पं० हीराबल्लभ को शास्त्रार्थ में पराजित करके पाषाण मूर्तियों का विसर्जन कराया, फर्रूखाबाद, कानपुर काशी में शास्त्रार्थ किए, कलकत्ता

में ब्रह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्र ठाकुर को प्रभावित किया और यहीं से हिन्दी में बोलना लिखना प्रारम्भ किया। आगे चलकर उन्होंने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९३२ को गिरगांव, बम्बई में डाक्टर मानिक चन्द्र की वाटिका में नियमानुसार आर्य समाज की स्थापना की। यहां से महर्षि दयानन्द सरस्वती का कार्य दिगदिगन्त व्यापी हो गया। उनके विचारों का चारों दिशाओं में स्वागत हुआ। उनके विचार सुप्त प्राय: आर्य जाति को झकझोरने वाले थे। आर्य समाज के नियम संपूर्ण विश्व के लिए, सभी के लिए सर्वमान्य थे। ये नियम कालातीत हैं। वेदों के अध्ययन तथा समाज कल्याण के भाव को इनमें वरीयता दी गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के क्रान्तिकारी विचार देशोत्थान तथा मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वमान्य हैं।

स्वराज्य प्राप्ति की प्रेरणा : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देखा था कि राजनैतिक रूप से पराधीन जनता अपनी अस्मिता खो बैठती है, उन्होंने अपने अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में इस गंभीर विषय पर गहन चिन्तन किया है :-

"सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्यकुल ही में पैदा हुए थे। अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राजा भ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है।"

"कोई कितना भी करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मतमतान्तर को आग्रहरहित, पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी उत्तम नहीं होता।"

"जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"

धार्मिक चिन्तन : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद को सब सत्य विद्याओं का ग्रंथ माना है। उनकी दृष्टि में वेद के सभी शब्द यौगिक हैं, और इसीलिए मानवी इतिहास शून्य है। वेद की सभी शिक्षाएं सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं। महर्षि की वेदार्थ शैली सायण आदि वेद भाष्यकारों से भिन्न है तथा यास्काचार्य आदि निरुक्तकारों की श्रेणी में आती है। उन्होंने शंकर, रामानुज आदि प्राय: सभी मध्यकालीन आचार्यो के संकोच की अवहेलना करते हुए वेद का द्वार मनुष्य मात्र के लिए खोल दिया है। यजुर्वेद के मंत्र "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:" की घोषणा करते हुए, स्त्रियों और तथाकथित शूद्रों तथा अतिशूद्रों को भी उन्होंने वेदाध्ययन का अधिकार मान्य किया। उन्होंने वेद को स्वत: प्रमाण तथा अन्य शास्त्र ग्रंथों को परत: प्रमाण माना। उन्होंने मूर्ति पूजा, मृतक-श्राद्धादि पौराणिक प्रथाओं को अवैदिक मानते हुए हेय ठहराया और घोषणा की कि परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं होती "न तस्य प्रतिमा अस्ति"। उन्होंने वेदों के आधार पर निराकार ईश्वर की ही पूजा का विधान किया।

महर्षि के प्रादुर्भाव के समय भारतवासी वेद के नाम मात्र से परिचित थे। महर्षि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान से जनता को परिचित कराया, पुर्तगीज पादरियों द्वारा वेद के नाम पर फैलाए गए भ्रमों का उन्मूलन किया। उन्होंने वेद प्रतिपादित धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि नामक ग्रंथों का प्रणयन किया। इससे धोखे से हिन्दुओं को विधर्मी बनाने के पाश्चात्य प्रयास को धक्का लगा। ऋषिवर ने शुद्धि का द्वार खोलकर परावर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही शुद्धि को क्रियात्मक रूप प्रदान कर दिया था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने "वेद की ओर चलो" का नारा देकर आर्य जाति पर महान् उपकार किया है। उन्हें 'वेदों वाला दयानन्द" कहा गया है। वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति व्याप्त अवमानना तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति सम्मान की भावना को ऋषिवर ने उखाड़ फेंका। उन्होंने समय की धारा को मोड़कर, प्राचीन सभ्यता के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना को जागृत किया। इस बलवती भावना का प्रसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के महान व्यक्तित्व, उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य, उनके त्याग और तपस्या तथा अपूर्व पांडित्य तथा निर्भीक सत्योपदेश के कारण ही संभव हो पाया।

सामाजिक चिन्तक : महर्षि दयानन्द सरस्वती का विशाल हृदय सभी को एक सूत्र में जोड़ना चाहता था। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था को सही अर्थो में व्यवहार्य सिद्ध किया। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों तथा अन्धविश्वास के गहन पंक से आर्यजाति को बाहर निकाला। उन्होंने बाल-विवाह के विरूद्ध सशक्त आवाज उठाई। उन्होंने ब्रह्मचर्य की महिमा का सिक्का, अपने उपदेशों और अपने क्रियात्मक जीवन से लोगों के हृदय में जमा दिया। बाल-विवाह की भांति वृद्ध-विवाह भी घोर अनिष्ट कर रहा था। इन दोनों का दुष्परिणाम था कि देश में करोड़ों विधवाएं घोर यातना का जीवन जी रही थी। भ्रूण हत्या, गर्भपात, नवजात बालिका वध आदि अनेक पातक हिन्दू जाति के लिए कलंक का टीका बने हुए थे। महर्षि दयानन्द ने इन विधवा बालिकाओं को त्राण दिलाया और विधवा विवाह की व्यवस्था की। मातृ शक्ति होते हुए भी उस युग में स्त्री जाति का घोर अपमान होता था। उन्हें पढ़ने लिखने का भी अधिकार नहीं था। शंकराचार्य की व्यवस्था थी - "स्त्री शूद्रौ नाधीयताम्"। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी"। इसी का परिणाम है कि आज हमारे देश में कन्याओं के लिए ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। हमारी बेटियां सभी क्षेत्रों में प्रशस्त पथ पर अग्रसर हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जन्मगत जाति - पाति तथा छुआछूत का जमकर विरोध किया। आर्य जाति अनेक कल्पित जातियों और उपजातियों में विभक्त हो रही थी।

प्रत्येक का खान-पान, शादी-ब्याह पृथक्-पृथक् था। उन्होंने इस विष बेल को समूल उखाड़ फेंकने के लिए वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचार किया। आज सर्वत्र अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह उन्हीं के सम्यक् प्रचार का प्रतिफल है। उन्होंने दलित जातियों के साथ, उच्च जातियों द्वारा किए जा रहे अमानवीय व्यवहार का भी विरोध किया। इसी भेदभाव के कारण लोग विधर्मी बनते जा रहे थे। उम्होंने कर्मणा वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादन करके सभी को समान अवसर प्रदान किए।

ऋषिवर ने देश, काल और पात्र को देखकर सात्विक दान देने की प्रथा प्रचलित की। जन्मना ब्राह्मण अथवा मठाधीश को दिया गया दान, निकम्मेपन को जन्म देता है। उन्होंने कहा कि दान उसी को दो, जो उसे सत्कार्य में लगाए।

हिन्दी भाषा के प्रति प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में अपूर्व योगदान दिया। उसकी मातृभाषा गुजराती थी, वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, परन्तु उन्होंने अपने सभी ग्रंथों का प्रणयन हिन्दी भाषा, आर्यभाषा में किया। उन्होंने संपूर्ण भारत का भ्रमण किया था। उन्होंने पाया कि हिन्दी भाषा ही सर्वग्राह्य है। उन्होंने कहा था कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाए बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र एक्य है जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाती है, वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लगते हैं।" वे तो यहां तक कहते हैं कि अपनी भाषा में वार्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा बोलने लग जाना, भला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा प्रतीत होता है तथा उससे घमण्ड भी प्रकट होता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती हिन्दी के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा था कि "दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का ही प्रयोग और प्रचार हो। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का एक्य संपादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रंथ आर्य भाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।" महर्षि अन्य भाषाओं के अध्ययन के विरूद्ध नहीं थे। उन्होंने लिखा था "जब पांच वर्ष का लड़का लड़की हो तब उनको देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करना चाहिए। अन्य देशीय भाषाओं का भी अभ्यास कराना उचित है।"

स्वदेशी-प्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में जगह-जगह स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की शिक्षा दी है। वे स्वधर्म, स्वभाषा, स्वराष्ट्र और स्वसंस्कृति को स्वदेशोन्नति का मूलाधार मानते हैं। वे एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य को देशोन्नति

के लिए अनिवार्य मानते हैं। आर्यावर्त की प्रशंसा स्वामी जी ने इस प्रकार की है, "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश दूसरा देश भूगोल में नहीं है। इसलिए इसका नाम स्वर्णभूमि है। जितने भूगोल में देश हैं, वे इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा करते हैं कि जो पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बातें झूठी हैं, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है, जिससे कि लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण हो अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।"

सहिष्णुता : ऋषि दयानन्द सरस्वती की सहिष्णुता सराहनीय थी। उन्हें जब अनूप शहर में एक व्यक्ति ने पान में विष दिया और सैयद मौहम्मद मजिस्ट्रेट ने उस विष देने वाले को पकड़वाकर हवालात में बन्द करा दिया तो स्वामी दयानन्द ने उसे छुड़वाते हुए कहा था "मैं दुनिया को कैद कराने नहीं, किन्तु कैद से छुड़ाने आया हूं।"

ब्रह्मचर्य : महर्षि दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचर्य की मर्यादा का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। एक दिन वे यमुना तट के विश्रान्त घाट पर समाधिस्थ थे। उस समय एक देवी ने श्रद्धा से अपना सिर उनके पांव पर रख दिया, तब उन्होंने प्रायश्चित रूप में ३ दिन का उपवास किया था। ब्रह्मचर्याश्रम के संबंध में उन्होंने लिखा है "ब्रह्मचर्य जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और युवकों को संबोधित करते हुए कहा, सौम्य युवकों ! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान पड़ जाती है और सभ्यवेश, सभ्यभाषा, सभ्याचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।" उन्होंने कामवासना से बचने का भी आग्रह किया, "कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में न रहे, नाच आदि कभी न देखें।

महर्षि दयानन्द सरस्वती आदित्य ब्रह्मचारी थे। उन्होंने जालंधर के सरदार विक्रम सिंह की आठ घोड़ों की बुग्गी को हाथ से रोक लिया था। कोचवान चाबुक फटकारता रहा, पर बुग्गी न हिली। जब पीछे घूमकर देखा तो स्वामी जी चक्का पकड़े खड़े थे। यह उनके ब्रह्मचर्य का ही बल था।

वीरता : कर्णवास में स्वामी दयानन्द एक दिन गंगा तट पर उपदेश दे रहे थे। बरेली के राव कर्ण सिंह कुछ हथियार बन्द साथियों के साथ वहां आए और बातचीत करते करते वह इतने क्रोध में आ गए कि उन्होंने तलवार खींचकर स्वामी जी पर आक्रमण कर दिया। स्वामी जी ने तलवार छीनकर दो टुकड़े कर दिए और राव साहब को पकड़ कर कहा, "मैं तुम्हारे साथ इस समय वह सलूक कर सकता हूं, जो किसी आततायी के साथ किया जा सकता

है, परन्तु मैं सन्यासी हूं, इसलिए छोड़ देता हूं। जाओ ईश्वर तुम्हें सुमति देवें।'' ऋषिवर के जीवन में आए अनेक प्रसंग उनकी वीरता के प्रतिपादक हैं।

निर्भीकता : महर्षि दयानन्द सरस्वती असत्य का खण्डन तथा सत्य का प्रतिपादन निर्भीक होकर किया करते थे। एक बार बरेली में उनके व्याख्यान हो रहे थे। उनके व्याख्यानों में अनेक विदेशी तथा अन्य धर्मानुयायी भी आया करते थे। उनसे कहा गया कि वे ईसाई मत का खण्डन न करें, क्योंकि इससे वहां के उच्च राज्य अधिकारी अप्रसन्न होंगे। उस दिन के व्याख्यान में, जबकि वहां पर उच्च राज्य अधिकारी भी उपस्थित थे, स्वामी जी ने गरज कर कहा- ''लोग कहते हैं कि असत्य का खण्डन न कीजिए, इससे कमिश्नर अप्रसन्न होगा, कलक्टर नाराज होगा, परन्तु चाहे चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'' स्वामी जी ने यहां तक कहा है- ''यदि लोग हमारी अंगुलियों की बतियां बनाकर जला डाले तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।'' महर्षि दयानन्द की मान्यता थी कि यदि सत्याग्रह के लिए कारावास भी मिले तो कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए- ''सत्य के लिए कारावास कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म पथ पर आरूढ़ होकर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग उत्पन्न न होगी, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण की कामना भी कभी नहीं करूंगा।'' महर्षि के सत्य प्रतिपादन में कहीं भी बदले की भावना नहीं थी। वे पूर्णतः पक्षपात रहित थे। उन्होंने लिखा है ''जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है।'' वे पक्षपात रहित सत्य के ही समर्थक थे और सत्य प्रतिपादन में निर्भीक थे।

योग की विभूति : प्रयाग में एक दिन स्वामी जी सभा में विराजमान थे। पं. सुन्दर लाल जी आदि अनेक प्रतिष्ठित सदस्य भी उपस्थित थे। अचानक स्वामी जी हंस पड़े। उनसे हंसने का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया कि ''एक आदमी मेरे पास आ रहा है आपको एक आश्चर्य जनक दृश्य दिखाई देगा।'' थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति आया और स्वामी जी के सामने मिठाई रखकर बोला कि ''महाराज आप भोग लगाएं।'' स्वामी जी मिठाई लाने वाले को देने लगे, परन्तु उसने लेने और खाने से इन्कार किया। इस पर स्वामी जी पुनः हंस पड़े। थोड़ी मिठाई एक कुत्ते को खिलाई गई, वह तुरन्त मर गया। मिठाई में जहर मिला हुआ था। जब स्वामी जी के श्रद्धालुजन उस व्यक्ति को पुलिस को देने लगे, तो स्वामी जी ने यह कहकर छुड़वा दिया कि ''वह स्वयं ही अपने किए पर लज्जित हैं। वह तो कांप रहा है।'' स्वामी जी को पूर्वाभास की दिव्य शक्ति प्राप्त थी।

अपूर्व विद्वत्ता : कर्णवास में स्वामी जी का शास्त्रार्थ अनूपशहर के पं. हीरा वल्लभ जी के साथ हुआ था। पं. हीरावल्लभ जी ने बीच में ठाकुर जी का सिंहासन रख दिया, जिस पर शालिग्राम आदि की मूर्तियां थी। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं स्वामी जी से इन्हें भोग लगवाकर ही उठूंगा। छ: दिन तक धाराप्रवाह संस्कृत में शास्त्रार्थ होता रहा। सातवें दिन पं. हीरावल्लभ जी बोले कि जो कुछ स्वामी जी कहते हैं, वह ठीक है। उन्होंने सिंहासन से उठाकर मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित कर दिया और सिंहासन पर वेद की प्रतिष्ठा की।

विश्वप्रेम : महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण जातीयतापूर्ण नहीं था, वह तो मानववादी था और यही कारण है कि आर्यसमाज के नियम बनाते समय- "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है," इस विचार को उन्होंने सम्मिलित किया। उनके सभी ग्रन्थों में प्राणी मात्र के कल्याण की भावना आदर्श रूप में मिलती है। उनकी भाष्य शैली में भी यही स्वर सर्वत्र प्रमुख है। वास्तव में वर्तमान जातीयता का विचार विश्व में शान्ति स्थापित करने में बाधक है। विश्व शान्ति विश्वमैत्री द्वारा ही संभव हैं वैदिक उद्घोष- "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" ही विश्व को एक सूत्र में निबद्ध कर सकता है।

आत्मनिरीक्षण : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हरिद्वार में "पाखण्ड खण्डिनी पताका" फहराई थी। एक दिन उन्होंने शयन से पूर्व आत्म निरीक्षण करते हुए पाया कि उनके धर्म प्रचार का जनता पर वह प्रभाव नहीं पड़ रहा है, जो अभीष्ट है। उन्हें इसका कारण अपनी तपस्या में न्यूनता जान पड़ी। तभी से उन्होंने सर्वमेध यज्ञ करके, केवल एक लंगोटी पहनकर गंगा के तट पर विचरना, तथा अपनी तपस्या और अपने ज्ञान में वृद्धि करने का प्रण कर लिया। अनेक वर्षो की साधना के पश्चात् उन्हें वह दिव्य शक्ति प्राप्त हुई जिसमें उन्होंने वैदिक धर्म का डिण्डिम घोष चहुं ओर प्रचारित किया।

शिक्षा–प्रसार : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। उन्होनें अपने जीवन काल में अनेक संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना भी की जिन्होंने अब विशाल और विस्तीर्ण रूप ग्रहण कर लिया है। वे स्त्री शिक्षा के भी अनन्य प्रबल समर्थक थे। उन्होंने स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य धारण और विद्या ग्रहण का अधिकार दिलाया। महर्षि ने अनिवार्य शिक्षा के विषय में लिखा है :-

"इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें वर्ष के उपरान्त कोई मनुष्य अपने लड़के या लड़कियों को घर में न रख सके। अवश्यमेव उन्हें पाठशाला में भेजें। यदि न भेजें तो वह दण्डित किया जाए।" महर्षि दयानन्द ने लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शिक्षणालय खोले जाने की व्यवस्था दी थी। शिक्षा के समय उनकी मान्यता

थी कि "सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिए जावें चाहे वह राजकुमारी व राजकुमार हों। चाहे दरिद्र की सन्तानें हों। सबको तपस्वी होना चाहिए।"

आर्यसमाज के अनेक गुरुकुल, विद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं। आज तो आर्य पद्धति पर आधृत शिक्षणालयों का जाल सा बिछा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा उनके अनुयायियों की शिक्षा नीति पर आधृत देश विदेश में अनेक विश्वविद्यालय तथा कालेज चल रहे हैं।

गौ-रक्षा : महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने धर्म प्रचार का कार्य तो किया ही, उन्होंने "गौरक्षा कार्यक्रम" का भी सूत्रपात किया। स्वामी जी ने देखा कि किस प्रकार लोग गोरक्षा की ओर से लापरवाही करते आ रहे हैं। उन्होंने आगरा में गोकृष्यादि रक्षिणी सभा की स्थापना गोरक्षा के लिए आन्दोलन करने के उद्देश्य से की। भारत देश की उन्नति में गोरक्षा का विशेष महत्व है। अजमेर में एक अंग्रेज कमिश्नर के विदाई समारोह में स्वामी जी ने ललकारते हुए कहा था- "आप जाकर महारानी से कह देना कि यदि गौहत्या इसी प्रकार जारी रही और सरकार हमारी धार्मिक भावनाओं से इसी प्रकार खेलती रही तो १८५७ की क्रान्ति पुन: दुहराई जा सकती है।"

ऋषिवर ने लिखा है "जब आर्यो का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे।" उन्होंने अपने जीवनकाल में गौशालाओं की स्थापना की। आज भी अनेक गौशालाएं इस दिशा में कार्यरत हैं। आर्यसमाज निरन्तर गौशालाओं की स्थापना की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है।

नारी-सम्मान : महर्षि दयानन्द सरस्वती ने स्त्रियों के लिए समान अधिकार दिए जाने का प्रावधान किया है। उन्होंने लिखा है "नारी न केवल गृहस्थ जीवन की अपितु मान व सम्मान की आधारशिला है। अत: उसका सुशिक्षित, सभ्य और सुसंस्कृत होना अनिवार्य है"। उन्होंने वैदिक पुत्री पाठशालाओं की स्थापना करके नारी जाति और शूद्रों को पढ़ने का अधिकार दिया। उन्होंने अपने सुधारवादी आन्दोलनों में विधवा-पुनर्विवाह बाल-विवाह और सतीप्रथा का निषेध, दास प्रथा से मुक्ति, गुण कर्म और स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था तथा छुआ-छूत का विरोध करके एक स्वस्थ एवं समुन्नत सामाजिक व्यवस्था प्रदान की।

आज नारी-जाति नर के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्रोत्थान के कार्यों में संलग्न है यह आर्यसमाज के ही प्रयासों का सुफल है।

अन्त समय मृत्यु का अद्भुत दृश्य : स्वामी जी महाराज अजमेर में भिनाय की कोठी

में मृत्यु शैया पर लेटे थे। संपूर्ण भारत से तथा विदेशों से भी अनेक भक्त उनके दर्शनार्थ वहां आते रहते थे। लाहौर के प्रसिद्ध विद्वान् पं. गुरूदत्त विद्यार्थी, एम.ए., भी आर्यसमाज लाहौर के प्रतिनिधि के रूप में वहां पर पहुंचे थे। स्वामी जी ने बातचीत करके सबको विदा किया और अपनी शैया पर बैठ गए। उन्होंने प्राणायाम किया। प्राणायाम के पश्चात् वेदमंत्रों का पाठ किया। मन्त्रोच्चारण करते समय उनके मुख पर मुस्कुराहट थी। गुरूदत्त ने सोचा कि मौत का नाम सुनकर लोग भयभीत होते हैं, कांपते हैं, पर ऋषिवर के मुख पर तो प्रसन्नता की स्फूर्तिदायक आभा है। उन्हें कोई कष्ट नहीं है। वे प्रसन्नवदन परमात्मा की आराधना कर रहे हैं। स्वामी दयानन्द की इस प्रसन्न मुखमुद्रा का गुरूदत्त पर विद्युतीय प्रभाव हुआ। उनके हृदय में जमा नास्तिकता का कूड़ा कर्कट क्षण भर में साफ हो गया। उनका हृदय कमल आस्था, विश्वास और श्रद्धा से प्रस्फुटित हो गया। स्वामी दयानन्द ने एक निःश्वास ली और प्रसन्न वदन बोले, ''प्रभु आपने अच्छी लीला की, आपकी इच्छा पूर्ण हो'' इन शब्दों के साथ उन्होंने अन्तिम श्वास खींचा और प्राण त्याग दिए।

मृत्यु के इस अद्भुत दृश्य ने प्रकट कर दिया कि जो महान् पुरुष ईश्वर विश्वासी होते हैं, जिनके हृदय में परोपकार के भाव भरे रहते हैं, जिनका संसार में किसी से राग-द्वेष नहीं होता, वे इस प्रकार प्रसन्न वदन, मुस्कराते और ईश्वर का स्मरण करते हुए संसार से विदा होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय पुनर्जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत थे। उन्होंने भारत की सुप्त, पराधीन जाति की हृत्तन्त्री को झंकृत करके, उन्हें नवस्फूर्ति तथा नवचेतना प्रदान की। सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों के उन्मूलन तथा स्त्री-जाति और दलितों को उनका समान अधिकार दिलाने के लिए सबल प्रयास किया। वेदोद्धारक ऋषिवर की वैज्ञानिक अन्वेषण दृष्टि ने आर्य जाति को अपने व्यवहार में उच्चता, उदात्तता तथा मानवीयता लाने की गुणवत्ता प्रदान की। उनकी स्वराज्य की अवधारणा तथा स्वभाषा प्रवर्तन की भावना ने राष्ट्रोत्थान तथा राष्ट्रीयता की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। वे हमारे प्रेरणा स्रोत तथा वन्दनीय एवं स्मरणीय है। उनके जन्म दिवस पर, उनकी स्मृति में हमारी विनत श्रद्धांजलि।

कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.
हरिद्वार - २४९४०४

वेद एवं भगवद्गीता के दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टि

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'

वेद और गीता संस्कृत वाङ्मय की अमर कृतियां हैं। परवर्ती मानव और साहित्य इनसे सदा ही आप्लावित और अनुप्राणित रहा है। जहां वेद का ज्ञान परमपिता परमात्मा ने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए सृष्टि के आदि में दिया[1] वहीं गीता का उपदेश भी योगिराज कृष्ण ने दिग्भ्रमित अर्जुन को युद्ध भूमि में दिया। यह सुविदित है कि पार्थ सारथि भगवान् श्री कृष्ण ने महाभारत युद्ध भूमि कुरूक्षेत्र में धर्माधर्म के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ अपने जिज्ञासु भक्त पृथा पुत्र के प्रति अनादि एवं अपौरुषेय वेदों का जो निष्कृष्टार्थ गान किया,[2] उसी का श्री वेदव्यास द्वारा संगुम्फित स्वरूप 'श्रीमद्भगवद्गीता' है जिसका सात सौ श्लोकों का अष्टादशाध्यायात्मक आकार है।[3] इन सात सौ श्लोकों में से प्रथम अध्याय के सैंतालीस तथा द्वितीय अध्याय के दस, कुल सत्तावन श्लोक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते हैं, शेष छह सौ तैंतालिस श्लोक दार्शनिक भावों के सूक्ष्म विवेचन से सम्बद्ध हैं।

महर्षि मनु के अनुसार वेद 'सर्वज्ञानमय' हैं। इनमें तृण से लेकर मोक्ष पर्यन्त सभी पदार्थो का कहीं विस्तार से तो कहीं अल्प 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशतिवत्' वर्णन हुआ है। आध्यात्मिकता से तो वेद अनुस्यूत हैं। इनमें दार्शनिक भावों का तो बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया गया है। वेदों ने जहां ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का बखान किया, वहीं जीव की 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' कहकर उसकी सत्ता भी सिद्ध की है। वेदों में इन तीनों अनादि तत्वों के अलावा सप्तचक्र, षट्चक्र, पञ्चचक्र और द्विचक्र आदि विविध तत्वों का भी वर्णन मिलता है। वेद का दर्शन षड्दर्शन धारा और मध्यकालीन आचार्य दर्शन परम्परा से कुछ हटकर भी है। वेद केवल तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा का ही वर्णन नहीं करता अपितु, इनमें विज्ञान एवं दर्शन से लेकर मानव की गहनतम ज्ञान की जिज्ञासा का समाधान भी है। दर्शन

---

१. वैदिक भारतीय परम्परा वेदों को निराकार परमात्मा द्वारा सृष्टि के आदि में दिया हुआ ज्ञान स्वीकारती है।

२.१- गीता शास्त्र सम्पूर्ण वैदिक शिक्षओं के तत्वार्थ का सार संग्रह है- 'समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतम्' द्र० गीता, शांकर भाष्य की भूमिका।

२.२ गीता में उन्हीं सत्यों का प्रतिपादन किया गया है जो वेदों में पहले से ही विद्यमान हैं- ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिः विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। ।गी०१३/४

३- यह श्लोक संख्या गीता प्रेस, गोरखपुर के संवत् २०५१ में प्रकाशित एक सौ सन्तानवें संस्करणानुसार है।

कारों ने जिन विषयों को सूत्रों में ग्रथित कर दिया है वे उन्हें वेदों में विस्तृत रूप से स्पष्ट मिले थे। वेदों का हर मन्त्र, हर सूक्त, हर अध्याय अपने आप में एक दर्शन है। मन्त्र का, सूक्त का, अध्याय का कोई न कोई ऋषि अवश्य है। वह मन्त्र उस ऋषि का दर्शन है जिसके अर्थों का दर्शन उसने समाधि में किया है। ब्रह्म के सानिध्य में किया है। जिस प्रकार वैशोषिकादि दर्शन महामुनि कणाद आदि के दर्शन हैं वैसे ही वेदों में उपलब्ध सूक्त उन पर उल्लिखित ऋषियों के दर्शन हैं। वे ही वैदिक षड्दर्शनों और तत्सम्बन्धी चिन्तना के आधार हैं।

वेदों के पश्चात् सबसे अधिक यदि किसी ने वैदिक दर्शन और आध्यात्मिकता को विश्व में फैलाया है तो वह निश्चित रूप से 'श्रीमद्भगवद् गीता' ही है। स्वाध्याय करने पर अथर्ववेद (१९/९/५) में 'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि' इस मन्त्र को देखा तो श्री मद्भगवद्गीता का मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति' (१५/७) यह वचन तथा कठोपनिषद् (१/२/१५) में- .....

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

इस वचन को देखकर गीता (८/११) का-

'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।

यह वचन स्मरण हो आया। इसी प्रकार गीता (८/९) के-

कविं पुराणमनुशसितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।'

इस श्लोक को देखकर वेद एवं उपनिषदों के निम्न वचन स्मृति पटल पर छा गये।

- कविर्मनीषी — यजु. (४०/८)
- आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् — यजु. (३१/१८)
- स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् — यजु. (१३/४)
- वेदाहमेतमजरं पुराणम् — श्वे उ०
- अणोरणीयान्महतो महीयान् — श्वे उ०
- अचिन्त्य रूपम् — मु०उ० (३/१/७)

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम का वेदरहस्यात्मक अर्थ गीता के वक्तव्य के रूप में बताते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर:।।
यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तम:।
अतोऽस्मिन् लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम।।
(गीता १५/१६/१८)

श्री जगन्नाथ शास्त्री 'सारस्वत' ने अपने 'भगवत्गीता और वेदगीता' नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम सम्बन्धी गीता-वक्तव्य की निम्न मन्त्रों से तुलना की है-

१. यस्मान्न जात: परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापति: प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।।
(शु०य० ८/३६)

कुछ पदों के परिवर्तन के साथ शुक्लयजुर्वेद के ३२/५ वें मन्त्र के रूप में भी यह मन्त्र पठित है।

२. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर: क्षरात्मानावीशते देव एक:। (श्वे. उप० १/१०)

३. एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नात: परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।। (श्वे.उ.१/१२)

इसी प्रकार गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२/४७) एवं १८/६,७,८,९ आदि सैंकड़ों स्थल जिनमें 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि (यजु० ४०/२) आदि वेद मन्त्रों की छाया प्रतिबिम्बित हो रही है, अध्ययन करते समय पदे-पदे दखे गये। तब गीता के प्रत्यध्याय की पुष्पिका में पठित 'श्रीमद् भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस वचन और गीता के माहात्म्य में आये 'सर्वोपनिषदोगाव:' श्लोक के आधार पर यह समझते देर न लगी कि वेदों का सार उपनिषद् और उपनिषदों का सार गीता है। अनन्तर ही वेदों से गीता के दार्शनिक भावों के समन्वय की भावना प्रबल हो गयी। वस्तुत: गीता का आरम्भ वैदिक धरातल पर ही हुआ हैं। ये दोनों विरोधी नहीं हैं। यदि कहीं इनके दार्शनिक विचारों में विरोध नजर आता है तो उसकी सही व्याख्या होनी चाहिए। गीता में जो 'वेदवादरता:' जैसे वचनों में कहीं-कहीं वेदों की निन्दा की गयी जान पड़ती है, वास्तव में वहां वेदानुकूल आचरण न करने वाले लोगों की भर्त्सना है।

गीता के आविर्भाव के पश्चात् से ही तत्तत्कालीन भाष्यकार, सम्प्रदायाचार्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण से इसके दार्शनिक भावों का सुविशद्विवेचन करते आ रहे हैं और सबने यत्र-तत्र स्वरकार भी किया है कि गीता के दार्शनिक भावों की आधारशिला वेद ही है। गीता की अन्त:साक्षी भी स्वयं इसकी पुष्टि करती है।

वेद विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार - २४९४०४

गतांक से आगे-

शून्यवाद का खण्डन

डॉ0 सूनृता विद्यालंकार

शून्यवाद बौद्ध के मत की आलोचना करते हुए भाष्यकार कहते हैं[14] कि शून्यवादी लोग भी उक्त पंचस्कन्ध विषयक महानिर्वेदरूप वैराग्य के लिए तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप प्रशान्ति के लिए गुरू के पास में 'साक्षात्कार पर्यन्त ब्रह्माभ्यास करूंगा' ऐसा कहकर स्कन्धतिद्विषयक वैराग्य, अन्य, मोक्ष, गुरुपसत्ति तथा ब्रह्माभ्यास आदि सर्वपदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हुए भी, फिर आत्मा की सत्ता का ही अपलाप करते हैं। शून्य ही तत्व है ऐसा मानते हैं। अतः इनका मत भी 'प्रत्यक्ष' न्याय विरूद्ध' ही समझना चाहिए।

यहां पर विज्ञानभिक्षु ने शून्यवादी के मत में, जो स्वमत विरोध तथा न्याय विरोध रूप दोष दिए हैं वे वेदान्त मन में भी लागू पड़ते हैं, ऐसा कहा है[15]। क्योंकि, वैदान्ती भी गुरुवेदादि सकल संसार को मिथ्या कहते हुए ब्रह्मचर्यादि मोक्ष साधनों को उपदेश करते हैं। परन्तु यह कहना समीचीन नहीं क्योंकि वेदान्त मत में मिथ्यया शब्द का अर्थ शून्य नहीं, किनतु व्यावहारिक है और व्यवहार काल में संसार तथा गुरू वेदादि सर्वसाधन सत्य है। अतः उक्त दोष का अवकाश नहीं भाष्यकार ने जो कहा है वह ठीक ही है कि सांख्ययोग मतावलम्बी पुरूष को ही चित्त का भोक्ता मानते हैं।

पुनः बौद्धवादी लोग कहते हैं कि यदि चित्त न स्वग्राह्य है औन न चित्तान्तर ग्राह्य, किन्तु आत्मा ग्राह्य है अर्थात् पुरूष के द्वारा उसका ग्रहण होता है तब निर्लेप, स्वयं प्रकाश तथा निष्क्रिय पुरूष में चित्त का भोक्तृत्त्वरूप दर्शनकर्तृत्व कैसे ? भाव यह है कि पुरुष क्रियारहित तथा अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषय को ग्रहण करने में क्रिया एवं परिणाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस प्रकार कर सकता है ? इसका समाधान इस सूत्र में है कि यद्यपि अपरिगामी भोक्तृशक्ति पुरुष किसी विषय से सम्बद्ध न होने से निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से तदाकार होने से, वह उस बुद्धि का ज्ञान प्राप्त करता है[16]।

यद्यपि निर्विकार पुरुष में दर्शन कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बत हुए चन्द्रमा में अपनी चंचलता का अभाव रहता है किन्तु जल रूप उपाधि की चंचलता से वह भी चंचल सा प्रतीत होता है वास्तव में नहीं, वैसे ही चैतन्य में दर्शनकर्तृत्वादि धर्म स्वाभाविक नहीं अपितु औपचारिक रूप से दिखायी पड़ते हैं।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है[17] उस श्लोक का अभिप्राय यह

है कि व्यावहारिक काल में चेतन बुद्धिवृत्यवशिष्ट ही है। जिस गुफा में शाश्वत ब्रह्म निहित है वह गुफा न पाताल है न पर्वतों की गुफा है न अन्धकार है न समुद्रों की खाड़ी है किन्तु प्रतिबिम्बत चेतना से अभिन्न जो बुद्धिवृत्ति है उसी को कवि ब्रह्म गुहा कहते हैं।

चित्त एवं पुरुष के अभिन्ता का रहस्य

चित्त एवं पुरुष को विज्ञानवादी बौद्ध अभिन्न कैसे मान लेते हैं इस भ्रान्ति के बीज का उद्घाटन करते हुए सूत्रकार कहते हैं[18] कि चित्त द्रष्टा एवं दृश्य दोनों के आकार को प्राप्त होने के कारण सर्वाथ कहा जाता है। चित्त की दृश्याकार एवं पुरुषाकार वृत्ति होती है। वह मन स्वयं विषय (दृश्य) होने से पुरुष की निजंवृत्ति (चिदात्मक वृत्ति) के साथ संयुक्त है। चित्त पुरुष का विषय रूप होता हुआ भी पुरुष के समान अविषयी, जड़ होता हुआ भी चेतन के समान मालूम पड़ता है। इस प्रकार चित्त पुरुष की तरह चेतन प्रतीत होने से विज्ञानवादी बौद्ध उसी को आत्मा समझ बैठते हैं। उनके मतानुसार सम्पूर्ण जगत् ज्ञान का ही आकार मात्र है अतः वृत्ति के आधार का दर्शन पुरुष को होता है विषय का नहीं इसलिए वह विषय को ही गोलमाल करके चित्त (वृत्ति) को ही सर्वेसर्वा मान बैठे हैं। ऐसे बौद्ध दया के पात्र हैं ऐसा भाष्यकार का मत है।

इस प्रसंग में पुनः विज्ञानवादी बौद्धों के मत को उपस्थित कर भाष्यकार ने खण्डन किया है[19]। योगाचारमतावलम्बी क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार चित्तमात्र ही है। यह सम्पूर्ण प्रपंच गवादि, घटादि सकारण लोक कुछ नहीं है, चित्त से अतिरिक्त बाह्य प्रपंचका अभाव है ऐसे बौद्ध लोगों की भ्रान्ति का कारण है चित्त का सर्वाकार रूप से दीखने वाला स्वरूप। अतः समाधिकाल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसमें तीन पदार्थ भासते हैं ध्येय, ध्यान, ध्याता। प्रज्ञा में प्रतिबिम्बित होकर जो भासता है वह ध्येय रूप अर्थ है और जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह ध्यान रूप प्रज्ञा है एवं प्रतिबिम्बसहित प्रज्ञा का जो आधार है वह ध्यातारूप पुरूष है। इस प्रकार विवेक करने पर चित्त से भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

यदि वैनाशित लोग- उक्त प्रज्ञा का आधार आत्मा नहीं किन्तु चित्त ही क्यों न माना जाय? ऐसा कहेंगे इस पर भाष्यकार कहते हैं यदि प्रज्ञा का आधार चित्त मात्र होगा तो प्रज्ञा से ही प्रज्ञा रूप को किस प्रकार ग्रहण किया जाएगा अर्थात् 'कर्मकर्तृविरोध' उपस्थित हो जायेगा।

अतः सिद्धान्त पक्ष है कि समाधिप्रज्ञा में प्रतिबिम्बीभूत अर्थ को जानने वाला चित्त से भिन्न पुरूष है। इस प्रकार ग्रहीता (पुरुष), ग्रहाण (वृत्ति) ग्राह्य विषयादि चित्त यह तीनों जाति से भिन्न है ऐसा यथार्थदर्शी ज्ञानी लोग मानते हैं।

अन्तिम प्रश्न है कि जब चित्त से सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनायें रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है। इसका समाधान सूत्रकार ने इस प्रकार किया है[20] कि चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित होता हुआ भी परार्थ है क्योंकि वह संहत्यकारी हैं। चित्त इन्द्रियादि संघात के साथ मिलकर काम करने वाला है। इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न हो सकता

है कि चित्त संहत्यकारी होने पर भी भोग और अपवर्ग अपने लिए सम्पादन करे अतः चित्त से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान भाष्यकार ने किया है[21] कि सुखदुःखमय भोगोत्मक चित्त सुखदुःखरूप भोगात्मक चित्त के लिए नहीं है अर्थात् चित्त अपने ही लिए भोग समोक्ष का सम्पादन नहीं कर सकता क्योंकि कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। भाव यह है कि प्रवृत्तिशील चित्त भोग कहा जाता है और निवृत्तिशील चित्त मोक्ष कहा जाता है। अतः भोगमोक्ष चित्त रूप होने से भी अन्य आत्मा के लिए है अपने लिए नहीं। जो जो असंहत्यकारी होता है वह पर होता है इस 'व्याप्ति' से जो चित्त से पर पदार्थ होता है वह पुरूष है। यदि चित्त से पर कोई संहत पदार्थ ही स्वीकार किया जाएगा तो पदार्थ की धारा की विश्रान्ति न होने पर अनवस्थारूप दोष प्राप्त होगा। अतः चित्त से पर जो पदार्थ स्वीकार किया जाय वह असंहत पदार्थ ही होना चाहिए।

अतः यद्यपि चित्त असंख्य वासनारूप चित्र से चित्रित है, उसी को भोक्तारूप से स्वीकार करना उचित है। क्योंकि, जो वासना का आश्रय होता है, वही भोग का भी आश्रय होता है, यह नियम है। तथापि वह चित्त स्वार्थ नहीं, किन्तु पुरूष के लिए भोग मोक्ष का सम्पादक होने से पुरूषार्थ है। क्योंकि लोक में जो जो पदार्थ परस्पर मिलकर किसी एक कार्य को सम्पादन करते हैं, वे सब पदार्थ ही देखे जाते हैं, स्वार्थ नहीं। जैसे शयन, आसन, गृहादि पदार्थ परस्पर मिलकर गृहपतिरूप पुरूष के भोग के लिए होते हैं। वैसे ही चित्त भी क्लेश, कर्म, वासना एवं विषयादि के साथ मिलाकर आत्मा रूप पुरूष का अर्थ सम्पादन करने के लिए है, स्वार्थ नहीं। अतः जो भोगावर्गरूप अर्थवाला है वही पुरूष है।

यह सब युक्तियां चित्त को आत्मा से भिन्न बतलाकर दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। पुरूष की सत्ता में प्रमाण देकर अब पुरूष का स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वैसे पुरूष की सत्ता सिद्ध करते हुए ही स्वरूप का भी कहीं-कहीं उल्लेख हो गया है परन्तु संक्षिप्त रूप में।

पुरूष का स्वरूप

भाष्यकार ने पुरूष का स्वरूप चित्रित करते हुए कहा है कि पुरूष अपरिणामी, विषय से असम्बद्ध, विषयों का द्रष्टा, शुद्ध एवं नित्य है। यह इसका मिश्रित स्वरूप है। सांसारिक अवस्था में चित्त के साथ संयुक्त होने पर वह चित्तवृत्ति[22] को स्ववृत्ति मान लेता है तभी भोग का आरम्भ होता है।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि चित्त एंव पुरूष के संयोग से ही विषय का ज्ञान हो सकता है जैसे घटादि का प्रकाश सूर्य से सम्पर्क होने पर होता है तब चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब तथा चित्त में चैतन्य प्रतिबिम्ब मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि परस्पर प्रतिबिम्ब के बिना पुरूष-प्रकृति के संयोग से विषयज्ञान सम्भव है।

इस विषय में विज्ञानभिक्षु की दर्शन साहित्य को महत्वपूर्ण देन है। वे 'बिम्ब प्रतिबिम्ब' भाव से उपस्थापक हैं। उनके मतानुसार बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

चैतन्य में वृत्तिप्रतिबिम्ब की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि यदि वृत्तिप्रतिबिम्ब न माना जाय तो कूटस्थनित्य, विभु, चैतन्य का सभी विषयों के साथ सम्बन्धह होने से सर्वदा विषयमान होता रहेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि अज्ञानवश विषयों का स्फुरण सर्वदा कहीं होता है। इसका उत्तर देते हुए भिक्षु महाराज कहते हैं कि पुरूष तो नित्य ज्ञान स्वरूप है उसमें अज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती।

अतः कभी विषय का स्फुरण होता है कभी नहीं इसमें अर्थाकारता ही प्रमाण है[23]। यह अर्थकारता बुद्धि में परिणामरूपा है तथा पुरूष में प्रतिबिम्बरूपा है[24]। संस्कारशेष बुद्धि का प्रतिद्गम पुरूष में नहीं पड़ता क्योंकि कई विषय अतीन्द्रिय होते हैं जैसे परमाणु आदि। उनका प्रतिबिम्ब पड़ना असंभव है। अतः पुरूष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही पुरूष को ज्ञान होता है।

जिस प्रकार से चैतन्य में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार बुद्धि में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से जड़ होती हुई भी विषय का प्रकाश करने लगती है। तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब न पड़ने से चित्त ही द्रष्टा के रूप में सिद्ध होने पर कर्मकर्तृ विरोध हो जाएगा। तथा पुरूषाकार चित्तवृत्ति का होना असम्भव हो जाएगा। क्योंकि पुरूष विषय न होने से पुरूषाकार चित्तवृत्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती है। अतः परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का होना अवश्यम्भावी है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि पुरूष निर्गुण होने के कारण नीरूप है अतः उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? क्योंकि यह नियम है कि जो सगुण होता है रूपवान् होता है उसी का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इसका समाधान भी विज्ञानभिक्षु ने किया है कि बुद्धि परिणाम ही प्रतिबिम्ब शब्द से कहा गया है। जलादि में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसका तात्पर्य है कि सूर्याधाकार बुद्धि परिणाम होता है। अतः प्रतिबिम्ब शब्द का लौकिक अर्थ न होकर यहां पर 'प्रतिबिम्ब' शब्द से अभिप्राय है कि किसी के स्वरूप को ग्रहण कर लेना।

अतः सिद्ध हुआ कि यद्यपि पुरूष उदासीन है और सुखदुःखादि बुद्धिसत्व में उत्पन्न होते हैं उस समय पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धिसत्व में पड़ता है। उस समय भोग प्रारम्भ हो जाता है। जिस प्रकार जय एवं पराजय योद्धाओं के धर्म होते हैं पर उन धर्मों का राजा में आरोप किया जाता है उसी प्रकार सुखदुःखादि धर्म बुद्धिसत्व के होते हुए भी अहंकारवश आत्मा अपने धर्म मान लेता है।

सांसारिक पुरूषों का चित्र खिंचते हुए भाष्यकार ने कहा है कि भोगी पुरूष स्त्री पुत्रादि में रत रहने से अधिभौतिक, आधिदेविक तथा आध्यात्मिक क्लेश का अनुभव करते हैं। परन्तु उनको यह पता नहीं होता कि इस विषयसुख में भी दुःख ही है। मनुष्य सुख की तरफ दुःखनिवारणार्थ भागता है परन्तु महान् दुःखमयी कीचड़ में फंस जाता है। जिस प्रकार कोई पुरूष बिच्छु से डरकर सांप से डस लिया गया हो[25]।

पाद-टिप्पणी

१४. तथा स्कन्धानां महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्य चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्वस्य पुनः सत्वमेवापह्नुवते-व्यासभाष्य, पृ० ४३३

१५. एतेनाधुनिकवेदान्तिब्रुवा अपि न्यायविरुद्धा मन्तव्याः, तेऽपि मोक्षार्थ गुरूमुपासन्ना ब्रह्मातिरिक्तं सर्व शुक्ति रजतवदत्यन्ततुच्छमिति गुरूपदेशान्मोक्षतत्साधनादिकमेवापलपन्तीति-योगवार्तिक, पृ० ४३३

१६. चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापती स्वबुद्धि सर्वंवेदनम्- योगसूत्र ४/२२

१७. न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्। गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमवशिष्टां कवयो वेदयन्तें। -व्यासभाष्य, पृ० ५३५

१८. दृष्टदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वाथम्- योगसूत्र ४/२३

१९. अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्व, नास्ति खल्वयं गवादिर्घयदिश्च सकारणो लोक इति, अनुकम्पनीयास्ते, कस्माद्- अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वेषामाकार-निमसिं चित्तिमित्ति- समाधिप्रज्ञायां प्रतेयोर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्याऽलम्बनी भूतत्वादन्यः- व्यासभाष्य, पृ० ४३८

२०. तदसंख्येयवासनामिश्चित्रमपि परार्थ संहत्यकारित्वाद्- योगसूत्र ४/२४

२१. न सुखचितं सुखार्थ न ज्ञानं ज्ञानार्थ उभयमप्येतत्परार्थम्- व्यासभाष्य, पृ० ४४०

२२. वृत्तिसारुप्यमितरत्र-योगसूत्र १/४

२३. अतोऽर्थमानस्य कादाचित्कत्वाद्युपपतयेऽर्थाकारतेवावग्रहणं वाच्यं-योगवार्तिक, पृ० २

२४. सा चार्थाकरता बुद्धौ परिणामस्वरूपा पुरुषे च प्रतिबिम्बरूपा- योगवार्तिक, पृ० २२

२५. स खल्वयं वृश्चिकविषमीतित इवाशीविशेण दृष्टो- व्यासभाष्य, पृ० १८०

प्रभारी
कन्या महाविद्यालय
(गु.कां.वि.वि.)
हरिद्वार

*
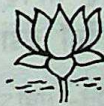
* *सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उघत रहना चाहिये।*

संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और मानसिक उन्नति करना।

(महर्षि दयानन्द सरस्वती)

भारतीय संस्कृतौ नारीणां यज्ञाधिकारः

डॉ० रामनाथ वेदालंकारः

वेदमन्दिरम्, ज्वालापुरम्, हरिद्वारः

वेदाः खलु भारतीयसंस्कृतेर्मूलम्। वेदेषु च नारीजीवनम् अतिशयेन पावनं, श्लाघ्यं, सुन्दरं, गौरवपूर्णं च विद्यते, तत्र कालिम्नो रेखापि न दृग्गोचरी भवति। वेदोक्ता नारी सुशिक्षिता, शिष्टा, विनम्रा, शीलवती, प्रकाशवती, लक्ष्मीवती, मेधान्विता, श्रद्धामयी, तपोमयी, स्नेहमयी संकल्पनिष्ठा, व्रतनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, राष्ट्रसेविका, शौर्यवती, वीरप्रसवा, विजेत्री, पापासुरसंहारिणी, दैत्यदलविमर्दिनी च विद्यते। तत्र भार्या स्वभर्त्रा सह दैनिकमग्निहोत्रमनुतिष्ठति। वैदिके कर्मकाण्डे पत्नीं विना कश्चिद् यजमानसंज्ञां न लभते। दम्पती परस्परं मिलित्वैव यज्ञं कुरुतः। महर्षियाज्ञवल्क्यानुसारम् अपत्नीकस्य यज्ञाधिकारो नास्ति- **"अयज्ञियो वा एषा योऽपत्नीकः (श. ब्रा. ३/३/३/१७)**

केषुचित् स्मृतिग्रन्थेषु नारीणां यज्ञकर्तृत्वं निषिद्धम्, परं **"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु स्मृतिरेव गरीयसी"** इति न्यायेन ताः स्मृतयो वेदविरुद्धत्वात् प्रमाणकोटिं नाधिरोहन्ति। सर्वैरेव प्रमुखैर्वेदभाष्यकारैः वेदे नार्या यज्ञाधिकारः समर्थितः।
ऋग्वेदस्यैकस्मिन् मन्त्रे तादृश्यौ द्वे धेनू वर्णिते ये एकमेव वत्सं प्रति धावतः।

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग् धेनू विचरतः सुमेके। ऋ० १/१४६/३

एतन्मन्त्रस्य व्याख्याने सायणाचार्यो वत्सशब्देन 'अग्निम्' धेनुशब्देन च 'पत्नीयजमानौ' गृह्णाति। यजमानो यजमानपत्नी च समानं वत्सम् अग्निं प्रति संचरतः, आहुतिं प्रयच्छतः इत्यर्थः। तथा हि - "समानम् एकमेव वत्सं वत्सस्थानीयं पुत्रवद् हर्षहेतुम् अग्निम् अभिमुखं संचरन्ती संचरन्त्यौ द्वे धेनू अग्निहितकरणेन प्रीणयित्र्यौ पत्नीयजमानलक्षणे धेनू विष्वग् विचरतः स्तनपानादिसदृशेन इन्धनप्रक्षेप-संमार्जनादिना सम्यग् वर्धयत इत्यर्थः" इति सायणीया व्याख्याऽत्राऽनुसन्धेया, यया नारीणां यज्ञाधिकारः स्वीकृतो जायते।

अपरोऽपि ऋग्वेदीयो मन्त्रोऽवलोकनीयः-

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया विभाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची।। ऋ० ५/३८/१

प्रातर्वेलायां यज्ञाग्निं समिद्धं दृष्ट्वा प्रोच्यते- एषोऽग्निः समिद्धोऽस्ति, अस्य ज्वाला अन्तरिक्षे श्रयति, उषसमभिमुखः सन्नेषोऽग्निर्विस्तीर्णतया प्रकाशते। विश्ववारा नारी नमस्कारैर्देवान् पूजयन्ती घृतपूर्णया स्रुचा सहिता हविषा च युक्ता आहुतिं प्रदातुम् अग्निमुपगच्छति। तथा च सायणः- "नमोभिः स्तोत्रैः देवान् इन्द्रादीन् ईडाना स्तुवती हविषा पुरोडाशादिलक्षणेन युक्तया घृताची घृताच्या स्रुचा सहिता विश्ववारा सर्वमपि पापरूपं शत्रुं वारयित्री एतन्नामिका प्राची प्राङ्मुखी सती एति, एवंभूतमग्निं प्रति गच्छति" इति। एतेन नारीणां यज्ञाग्नौ घृतपुरोडाशादिहविर्दानं सिध्यति।

ऋग्वेदस्याष्टमे मण्डले यज्ञकारिणोर्दम्पत्योः किं महत्फलं भवतीति एकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्य चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रपञ्चितम्। तथा हि -

या दंपती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा।।
प्रति प्राशव्याँ इतः सम्यञ्चा बर्हिराशाते। न ता वाजेषु वायतः।।
न देवानामपि ह्नुतः सुमतिं न जुगुक्षतः। श्रवो बृहद् विवासतः।।
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः। उभा हिरण्यपेशसा।।

ऋ० ८/३१/५-८

अर्थात् यौ समानमनस्कौ यज्ञकारिणौ दंपती जायापती सोमाभिषवं कुरुतः, अभिषुतं सोमरसं दशापवित्रेण शोधयतः, गोक्षीरेण च योजयतः, भक्षणार्हान्, हविर्योग्यान् अन्नादीन् प्राप्नुतः परस्परं संगतौ यज्ञं विरचय्य तत्र हविः प्रयच्छतः, तयोः कृते अन्नधनादिकस्य कदापि न्यूनता न जायते। यौ दंपती देवानाम् इन्द्रादीनां हविर्भागस्य अपलापं न कुरुतः, तान् स्तुत्या वञ्चिताँश्च न विधत्तः तौ बृहद् अन्नं यशश्च प्राप्नुतः। तौ पुत्रवन्तौ कुमारीवन्तौ च सन्तौ सम्पूर्णम् आयुरधिगच्छतः, उभावपि च हिरण्मयैराभरणादिभिर्युक्तौ जायेते।

सायणाचार्योऽप्याह- "अत्र यजने दंपत्योः स्तुतिः। .....या यौ दंपती यज्ञकारिणौ जायापती... तौ देवेभ्यो हविषां दातारौ दंपती .... सम्यञ्चा सम्यञ्चौ समीचीनौ संगतौ बर्हिः यज्ञम् आशाते आनशाते" इत्यादि। ऋग्वेदीये दशमे मण्डले पञ्चाशीतितमस्य विवाहसूक्तस्यान्तिमा ऋग् विद्यते -

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ।।

ऋ० १०/८५/४७

आश्वलायनगृह्यसूत्रविनियोगानुसारेण विवाहसंस्कारयज्ञे एतामृचं पठित्वां वधूवरौ परस्परस्य हृदयं स्पृशतः। सायणाचार्येणापि स एवार्थः समर्थितः।

दशममण्डलस्यैव ११४ तमे सूक्ते एका प्रहेलिका इत्थं निगदिता -

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्याँ सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।

ऋ० १०!११४!३

अत्र चतुष्कपर्दा काचित् सुन्दरी युवतिर्वर्णिता यस्या उपरि द्वौ वृषणौ निषीदतः। आचार्यः सायणः प्रहेलिकामिमां द्विधा समाधत्ते, याज्ञिकप्रक्रियया, अध्यात्मप्रक्रियया च। तन्मते याज्ञिकप्रक्रियायां चतुष्कपर्दा युवतिर्वर्तते चतुष्कोणा यज्ञवेदिः, तस्यां वृषणा वृषणौ हविषां वर्षितारौ सुपर्णा सुपतनौ जायापती निषण्णौ भवतः। एवं पत्या सह जायाया अपि यज्ञाधिकारः सिद्धः।

ऋग्वेदानुसरणे तु नारी न केवलं यज्ञाधिकारिणी, प्रत्युत यज्ञे **ब्रह्मा** अपि भवितुमर्हति - 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' (ऋ० ८/३३/१९)

सम्प्रति **यजुर्वेदीये कर्मकाण्डे** दृष्टिं निक्षिपामः। माध्यन्दिनवाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदसंहिताया भाष्यम् आचार्येण उवटेन महीधरेण च कर्मकाण्डपरं कृतम्। महीधरेण प्रायशः सर्वत्र प्रमाणरूपेण कात्यायनश्रौतसूत्रमुद्धृतम्।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ।। य० २/३३

कात्यायनानुसारमेतां कण्डिकां पठित्वा पुत्रकामा पत्नी मध्यमं पिण्डं प्राश्नाति- "आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति (का०श्रौ०सू० ४/१/२२) इति।

चातुर्मास्ययज्ञे "प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषसः।।

य० ३/४४ इति कण्डिकां प्रतिप्रस्थाता नाम ऋत्विक् पत्नीं वाचयति।

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा।।

य० ३/४५

एतन्मन्त्रस्य विषये उवट आह- "पत्नीवाचनो मन्त्रः। पत्नी दक्षिणाग्नौ करम्भपात्राणि जुहोति" इति। एष विनियोगोऽपि कात्यायनानुसारी महीधरेण कात्यायनसूत्रमुद्धृतमपि। तस्मिन्नेव प्रसङ्गे **"अक्रन् कर्म कर्मकृतः,** य० ३/४७" इति मन्त्रमपि श्रृत्विक् पत्नीं वाचयति। तथा च कात्यायनसूत्रम् **"अक्रन् कर्मेत्येनां वाचयति** (का० श्रौ०सू० ५/५/१३) इति।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः।।

य० ३/६०

इति मन्त्रं पतिकामा कुमारी पठति।

एकादशाध्यायेऽग्निचयनप्रसङ्गे **"युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः** (य० ११/५)" इति मन्त्रस्य व्याख्याने- "पत्नीयजमानौ 'वाम्' इति पदेनोच्येते। हे पत्नीयजमानौ, वां युवयोरर्थे नमोभिरन्नैः इदानीं हुतैर्घृतैः सहितं पूर्व्यं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितं परिवृढम् अग्निचयनाख्यं कर्म अहं युजे युनज्मि संपादयामि" इति महीधरः।

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरूत वा हिरण्यैः। य० १५/५० इत्यस्मिन् मन्त्रे पत्न्यादिभिः सह यज्ञकरणस्य विधानं प्रतिपादितम्। तथा च महीधरः - "हे देवाः दीप्यमाना ऋत्विजः पत्नीभिः कलत्रैः सह, पुत्रैरुत पुत्रैरपि सह भ्रातृभिर्वा भ्रातृभिश्च हिरण्यैः सुवर्णादिद्रव्यैश्च सह तमग्निम् अनुगच्छेम वयमनुसरेम, सेवेमेत्यर्थः" इति।

अथर्ववेदोऽपि नारीणां यज्ञविधानं पुष्णाति। चतुर्दशे काण्डे विवाहसूक्तेऽसकृद् वध्वै अग्निहोत्रोपदेशः कृतः। तथा हि-

उपस्तृणीहि बल्वजम् अधिचर्मणि रोहिते। तत्रोपविश्य सुप्रज्ञा इममग्निं सपर्पतु।।
आरोह चर्मोपसीदाग्निम् एष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा।
सुमङ्गल्युपसीदेममग्निं सं पत्नी प्रतिभूषेह देवान्।। अ० १४/२/२३-२५

एवं भारतीयसंस्कृतेर्मूलभूते वैदिकसाहित्ये यदा नारीणां यज्ञाधिकारः सिध्यति, तदा तासां वेदमन्त्रपाठाधिकारः सुतरां सिद्धः, मन्त्रपाठं विना यज्ञस्यासंभवत्वात्। किञ्च, उपर्युक्तेषु प्रमाणेषु क्वचित्तु नारीद्वारा स्पष्टतो मन्त्रपाठस्यैव विधानं कृतम्।

अतः साम्प्रतिके काले ये जना नारीं वेदाध्ययनाद्, वेदमन्त्रपाठाद्, यज्ञाच्च बहिष्कर्तुं यतन्ते तेषामियं चेष्टा वेदविरूद्धत्वाद्, नारीगौरवविरूद्धत्वाच्च सततमुपेक्षणीया न्यायमत्त्वाद् दण्डनीया च वर्वर्ति।

God and His two brothers

(परमात्मा के दो भ्राता)

By

Inder Dev Khosla, Advocate

Definition

The word brother means a male person born of the same parents, a relative, a kins man, an associate of the same rank professor, or occupation, a fellow deeply associated, one who resembles with another person having same manners and disposition. भ्राता= भाई, सहोदर, भैया, वन्धु व साथी, सम्बन्धी-सम्बोधनात्मक शब्द यथा भाई या भाई के समान

from the above definition it is abundently clear that two fellows of the same kind or of the same stock or closely relatred are also called as brothers in a brother sense on this anatogy we shall find what vedas say.

Three brother

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्त्यस्य अत्रीपश्यं विश्पति सप्तपुत्रम्।। *(Rig.1.164.1)*

This mantra also appears in Atharveda (9.9.1) and this fact confirms the importance of this subject. If we carefully study this mantra, we find that it supports the theory of (त्रैतवाद) holy trimity in a beautiful manner. It is like a puzzle which needs to be solved. Brahman grantha assists us in solving it and we discuss it as under :-

Eldest brother

Vamasya (अस्य वामस्य) It refers to great Lord (परमात्मा) of this universe, who is the master of all power & pelt is happiness incarnate. God has brought into being this universe (वाम means to vomit out) for the benefit and enjoyments of His subjects viz living beings (souls) (पलितस्य) Palitasya :- Not only that God created this world and left it over unconcerned but he also preserves it and provides to all & sundary according to their (कर्मा) deeds. The use of the word हेतु : Confirms this fact that He is (कर्म फल प्रदाता) Justice loving and gives award according to the (कर्मा) deeds done by individuals.

तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति प्रश्नः God number two brother is soul which is in the middle between matter and God. Soul is aho situated some where in the middle of the body of living beings from where to carries out is functions and excercises control. The soul (जीव) being in the middle has a course either to go towards the eldest brother God for achieving salvation or to bend towards the younger brother (प्रकृति) nature to enjoy the wordly objects & they remain in bondage (circles of lives and deaths). The choise is with the soul. In this mantra the word (ç'u) Ashram is used for soul because it is more inclined towards प्रकृति the younger brother so as to enjoy material things. Matter (प्रकृति) is inanimate and can't, by itself enjoy anything, it is only the soul that enjoys while in contact with the body. God too does not enjoy because He needs nothing He is perfect in Himself. परमेश्वर प्रकायो धीरः प्रभूतः स्वयम् भू-रसेन तृप्तःतृतीयो भ्राता धृतपृष्ठो अस्य The third youngest brother is (प्रकृति) matter or nature from this third brother souls derive all wealth, food and other material benefits, Method being inert has no interest in enjoyment of any thing. Charita indicates as source of physical strength. Then there is mention of seven sons, of nature in this mantra. (सप्तपुत्र) Saputva. These seven sons are प्रकृतो महान् महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्च तन्मात्रा) (Sankhya Darshan) Mahantatva, ego, (अहंकार), (शब्द) voice, (स्पर्श) touch, (रूप) beauty, (रस) taste and (गन्ध) smile. Through these seven sons the soul the soul in the body carries out in functions. There are seven pranas (प्राण) in the body they too can be called sons & they are the main source life.

Shri Shankaracharya interprets these three brothers as sun, middle region (air) and fire (youngest one). According to him seven sons are the seven coloured rays of the sun (VIBGYOR) violet, indigo, Blue, Green, Yellow, Orange & Red.

Thy friendship O Lord is everlasting. (Rg. 1/15/5)

Mirage Of a National Government

V.N. Gadgil

The fathers of our Constitution consciously and rightly adopted the British model of parliamentary democracy as best suited to the genius of India. During the last 50 years, this Westminster model has, by and large, worked fairly well in India.

Occasionally, the model breaks down, resulting in instability and turmoil. On such occasions, the usual response of many a sincere, honest, well-meaning and well-intentioned politician, academic and intellectual is either a demand for replacement of the parliamentary system by the presidential type of government or a plea for the formation of a national government.

The latest such plea was made by Speaker P.A. Sangma, who suggested we have a national government for the next 10 years.

The idea of a presidential form of government has been debated and discussed a number of times in the last 25 years. It is surprising that very little attempt has been made to examine the merits of the concept of a national government.

Since we have adopted the British model, it may be profitable to assess the British experience in this matter. This century has seen three coalitions in Britain which claimed to have a national character.

(a) The war-time coalition from May 1915 to November 1922.

(b) A national government which lasted from August 1931 to Sep tember 1932.

(c) The war-time coalition from May 1940 to May 1945.

The British Experience

On closer examination, it will be found that the first two could be called national governments only by stretching the meaning of the term. Only the third was a truly national government, created to win the Second World War, but it did not work very successfully and ended even before the war with Japan was over.

The national coalition of Liberals, Unionists and Labour, under Prime Minister H.H. Asquith was brought about in May 1915, ostensibly to win the First World War. It was the result of the desperate efforts of two party leaders, Bonar Law and Asquith, to maintain their credibility. It came about in very curious circumstances. Discontent in the Unionist rank and file was grow-

ing fast owing to shell shortage scandal and the resignation of Admiral Fisher after a violent quarrel with Winston Churchill. To forestall the discontent, Law had no alternative but to propose a coalition with Asquith.

It has been described as "the most precarious of shotgun marriages." It is said it was the most unpredictable of governments the product of intrigue and manoeuvre, with no agreed line of policy for the future. It cannot be categorized as a national government because its essential justification was that it existed to keep the "pacifists" of the Independent Labour Party and the Union of Democratic Control firmly at bay. The coalition was a poor advertisement for the concept of national governemnt despite the unifying pressures of the world war.

The coalition under Asquith did not have a smooth run. Home Minister Sir John Simon resigned on the issue of conscription. Many Liberals thought the government, although a national coalition, was in fact pursuing Unionist policies. The result was that the coalition gave way to another which was still narrowly based.

The Lloyd George coalition which ruled from December 1916 was a national government only in name. The conservatives dominated the war cabinet which had only one Liberal and one Labour member. Nearly all the leading figures of the Liberal party were opposed to it. It was a government of factions of parties with only the Conservatives giving total support. The Labour representative in the coalition - Arthur Henderson - resigned in August. 1917 after a qurrel with the prime minister over the question of attendance at an international socialist conference in Stockholm.

The Liberals were disenchanted, but there was very little they could do in view of the war. The Labour Party was officially part of the government, but its rank-and file movements amongst Welsh miners, the engineering and shipyard workers and pacifist bodies clearly showed that the coalition was not in any sense national.

The 1929 elections produced a hung parliament. A minority single-party government was formed with Ramsay Mac Donald as Prime minister. The government soon landed in trouble owing to Labour's reluctance to take strong measures to meet the economic crisis of 1930. The run of the sterling led banking opinion to demand more cuts in goverment was signed in the evening of 20 August 1931 when the Trade Union Congress made it clear that it would not accept any further cuts in expenditure on the unemployed.

Earlier, Lloyd George and the editor of The Observer had started a campaign for a national government. Mac Donald has also expressed a fleeting sympathy for the idea. But when the crisis came, he hesitated till the last minute. He knew that the Labour Party would react to the idea of a national government very sharply as betrayal of the movement. But he thought the surest way to avoid a forced devaluation was to form a national government. It is said the King played a controversial role and brought about a national government by persuading Prime Minister Mac Donald.

A national government created in such an atmosphere was bound to fail. Even the Liberal ministers resigned. The end came in September 1932 with hardly any mourners. In the Labour Party, the event is still regarded as a banker's coup, a Conservative conspiracy, and the Great Betrayal. This experiment of national government which lasted only for 13 months, instead of strengthening the national government led to a split in the Labour Party and marginalization of the Liberal Party.

The Churchill Government

The national government under Churchill from May 1940 was a truly national government as it included all political parties. Its supreme aim was to win the war. It looked as is the very existance of the nation was in danger. Yet things went badly for the government. Formal approval of the decision of join the government was not given unanimously by the annual conference of the Labour Party. The votes were 2,45,000 in favour and 1,70,000 against.

In the Conservative Party also there was no unanimity. Chamnerlain loyalists did not show much enthusiasm for the national government. When Churchill came to the House of Commons to deliver the famous blood, toil, tears and sweat speech, the Conservatives rose and cheered Chamberlain and not Churchill ! Cheers for Churchill came only from the Labour benches.

The war Cabinet was divided over many issues : negotiated peace with Hitler, opening of the second front, direction and conduct of war, the role of the defence supply committee, rationing of coal, the Beveridge report, equal pay for women teachers and many others. Churchill never developed with Atlee the intimacy that Lloyd George had with Bonar Law. Churchill ran the defence ministry arbitrarily, without giving any role to the three ministers incharge of the three services. He did not have a high opinion of any of the Labour ministers except Bevin. He rarely consulted the Conservative Party. The only two persons whom he trusted were Lord Beaverbrook and the scientist Lindermann.

A censure motion was moved protesting against the army action against Greek freedom fighters. Although the motion was lost, 24 Labour members

voted against the government and many asbtained. Twenty-five Conservatives voted against the motion to approve the Yalta Agreement. Shinwell, Winterton and Nye Bevan frequently opposed the government and attacked Churchill. Bevan described Churchil as "a bloated bladder of blasted lies" and observed in the House of Commons that" he wins debate after debate and loses battle after battle."

The war with Germany ended on 8 May 1945. Some Conservative leaders proposed that the coalition should continue at least till the war with Japan was over. However, the annual conference of the Labour Party which met in May 1945, rejected the proposal.

National Government Unnatural Government

All this goes to show that a national government is not a natural government. It is created by abnormal circumstances such as war or economic crisis. Its disintegration starts the minute the pressure of circumstances eases.

There have been many occasions in England when a national government was proposed by eminent persons, but the logic of the Westminster model rejects such attempts. For example, the 1974 elections did not produce a majority for any party. The electoral result aroused once again interest in the idea of a government of national unity bringing in the best talent without regard to party yet, the proposal was not purused by any party.

The truth is that, like the British system of judicial trial which we had adopted, the British model of parliamentary government is essentially adversarial. There is no room in it for consensual politics. On all occassions in this century, when general elections failed to produce a single-pary majority in Britain, the outcome was a single-party minority government (as in 1923, 1929 and 1974), never a coailtion or a national government.

A national government cannot work successfully merely because no party has secured a majority. A national government by its very definition will have to comprise all parties including the BJP. Image how it will work. Let us say that the very first item in the very first cabinet meeting of such a national government is the common civil code, or Article 370, or Ram Janmabhoomi. Will the cabinet ever be able to decide on any one of these items ? Let us, therefore realize that the concept of a national government is a mirage which we better give up.

गुरुकुल-पत्रिका

मासिक शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

श्रद्धानन्द - अंक

सम्पादक

डॉ0 भारतभूषण विद्यालंकार

उपसम्पादक

डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द

जन्म–1856 बलिदान–23 दिसम्बर 1926
(फा.कृ. त्रयोदशी संवत्–1913)

येषां जीवितमेव सर्वमभवल्लोकोपकारे ऽर्पितं,
दातुं वैदिकशिक्षणं गुरुकुलं, संस्थापितं यैः शुभम।
अस्पृश्यत्वनिवारणार्थमनिशं, यत्नः कृतो यैः सदा,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान् वन्देऽतिभक्तया युतः।।

गुरुकुल-पत्रिका
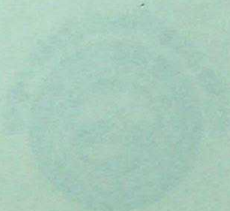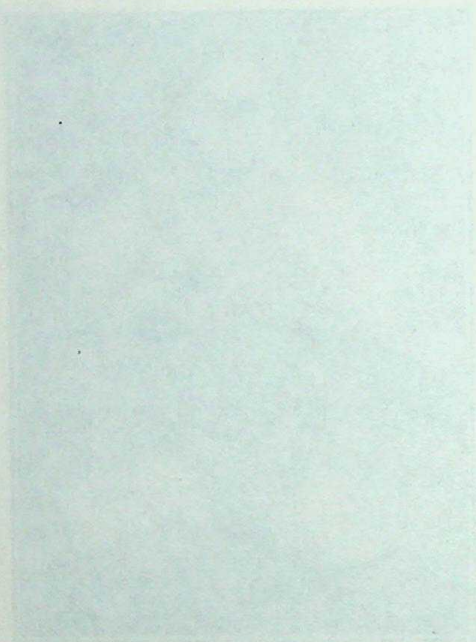
शोध-पत्रिका

Monthly Research Magazine

श्रद्धानन्द अंक

सम्पादक
डॉ० भारतभूषण विद्यालंकार
वेदाचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर - वेद विभाग

एवं
निदेशक
श्रद्धानन्द वैदिक शोध एवं प्रकाशन संस्थान

उपसम्पादक
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री 'धर्ममार्तण्ड'
वरिष्ठ प्रवक्ता, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार — 249404

अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर	वर्ष	आश्विन-पौष (कृष्ण)
1997	48	2054

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक	:	प्रो० श्याम नारायण सिंह कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - २४९४०४
मूल्य	:	१०० रुपये (वार्षिक)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, निकट गुरुकुल कांगडी फार्मेसी, कनखल फोन 415975

सम्पादकीयम्

भारत की राजधानी दिल्ली के चाँदनी चौक में स्थित, एक विशालकाय भव्य मूर्ति को देखकर सहसा ही उस लौह पुरुष की याद आ जाती है, जिसने गोरों की संगीनों के आगे अपना वक्षस्थल खोलकर कहा था- "यदि हिम्मत हो तो चला दो गोली, सन्यासी का सीना खुला है।" कैसा अनोखा व्यक्तित्व था वह न मरने की चिन्ता और न दैन्य से जीने की चाह। आकुलता से निहारती हुई जामा मस्जिद आज कह रही है कि संसार के इतिहास में केवल यह अनोखा व्यक्तित्व ही था जिसने किसी मस्जिद में जाकर पवित्र वेद मंत्रों का उच्चारण किया। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी स्वामी श्रद्धानंद ने वह अनोखा कार्य किया, जिसके आगे आज सारा विश्व नतमस्तक है। प्राचीन आर्ष शिक्षा पद्धति के उद्धारक आचार्य दयानन्द के बताये मार्ग पर चलने वाले श्रद्धानंद ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गुरुकुल पद्धति के शिक्षणालय की "उपहरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत" - के निर्देशानुसार, हिमालय की कन्दराओं में स्थापना की। यही नहीं, इस शिक्षणालय में सबसे पहले अपने ही बच्चों को प्रविष्ट किया।

स्वामी श्रद्धानंद इस बात को मानते थे कि संस्कृत का अध्ययनाध्यापन देश भक्ति का कार्य है। उनकी मान्यता था कि भारत की शिक्षा पद्धति सच्चे अर्थों में तभी राष्ट्रीय हो सकती है जब यहाँ के विद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन हो। अंग्रेजी सरकार ने भारत में जिस शिक्षा प्रणाली को प्रचलित किया है वह देश भक्ति का विनाश कर रही है और उन्हें "मानसिक दास" बना रही है। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की एक ऐसी योजना तैयार की जाये, जो सच्चे अर्थों में "राष्ट्रीय" हो। स्वामी जी मानते थे कि विशाल संस्कृत साहित्य का आरम्भ बिन्दु वेद ही है अतएव गुरुकुल के विद्यार्थियों को वेदज्ञ बनाने के लिए वे पौराणिक विद्वानों को भी गुरुकुल में अध्यापनादि के लिए बुलाते थे।

यह स्वामी श्रद्धानंद का ही असाधारण व्यक्तित्व था जो कि गुरुकुल जैसी अतुलनीय संस्था के निर्माणानन्तर भी, उन्हें न केवल विद्यार्थियों से ही अपितु अपने आर्य समाजी भाईयों से भी इस शिक्षण संस्था के लिए विरोध का सामना करना पड़ा। ८ श्रावण, संवत् १९६५ (सन् १९०८) के "सद्धर्म प्रचारक" के अंक में वे स्वयं लिखते हैं- "ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिए जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उसके प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना प्रारम्भ किया था, उसी दिन

गुरुकुल पर वज्र प्रहार प्रारम्भ हो गये थे। अपनों और बेगानों, आर्यों और अनार्यों सभी प्रकार के पुरुषों ने उसको जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये। किन्तु जब गंगा तट पर पहुँचकर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेद मंत्रों की ध्वनि से गुंजाना शुरु किया तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही नहीं रही"।

महात्मा मुंशीराम के अथक परिश्रम से जिस गुरुकुल ने थोड़े ही दिनों में दिन-दूनी और रात चौगुनी उन्नति और ख्याति प्राप्त की, उस गुरुकुल को विदेशी भी देखने के लिए आने लगे। गुरुकुल के इन पाश्चात्य दर्शकों में श्री सी०एफ० एण्ड्रूज सबसे प्रमुख थे। सन् १६१३ ई० में, गुरुकुल को देखने पर मार्डन रिव्यू (कलकत्ता) में उन्होंने एक लेख में लिखा था- "जिस भारत को मैं जानता था जिस भारत से मैं प्रेम करता था जो भारत मेरे स्वप्नों में था वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी और न श्रान्त न क्लान्त, जिसमें अनन्त अनश्वर यौवन था जो बसन्त के समान ताजा व नवयौवना थी। यहाँ गुरुकुल में यह नवभारत विद्यमान था।"

स्वयं महात्मा गाँधी ने एक बार बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के उत्सव से लौटने पर, मदनमोहनमालवीय को पत्र में लिखा था- "अगर स्वामी श्रद्धानंद हरिद्वार में गंगा के पावन तट पर बैठकर छात्रों को भारतीय सभ्यता का पानी पिला सकते हैं तो, आप वाराणसी के अन्दर उसी गंगा के किनारे बैठकर व्यर्थ में ही टेम्स नदी का जल क्यों पिला रहे हो ?"

स्वामी श्रद्धानंद ने हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। आत्मकथा-लेखकों में स्वामी जी का ही नाम सबसे प्रथम लिया जाता है। "कल्याण मार्ग का पथिक" स्वामी जी की वह आत्मकथा है जिसमें उन्होंने निःसंकोच अपना वृतान्त लिखा है- चाहे वह उनका उज्जूवल पक्ष हो या अनुज्जूवल। यही महापुरुषों की पहचान है।

महात्मा मुंशीराम देश के लिए ही जिये और उसके खातिर ही मरे। उनका बलिदान आज हमको प्रेरणा दे रहा है कि- हे भारत के कर्णधारों ! इस चमन को तुम बर्बाद न होने देना यह पौधा मुरझाये नहीं यह फल और फूलों से सदा आबाद रहे यदि इसके ऊपर कभी विपत्ति के बादल मँडराये तो उसको सहर्ष, चाहे प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े, हटा देना। उस महान् मनीषी, भारत के नवनिर्माता को डॉ० सत्यव्रत 'अजेय' के निम्न शब्दों में श्रद्धांजलि देता हूँ-

"इस मुल्क के चमन को, है चश्मेतर से सींचा।
इल्मोहुनर से सींचा, कभी मालोजर से सींचा।।
"श्रद्धा" बयाँ करें क्या, कुर्बानियाँ तुम्हारी।
जब वक्त आ पड़ा तो, खूनेजिगर से सींचा।।

- 'दिनेशचन्द्र शास्त्री'

मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न

-स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती

स्वप्नावस्था में ही जागृत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और उसी दशा में साधारण पुरुष का मन कर्म-काण्ड की तैयारी करता है।

गुरुकुल के लिये जिस दिन धन एकत्र करने के लिये मैं घर से निकला था (१२ भादों १९५६ वि. तद्नुसार २६ अगस्त १८९९) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएँ, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् १९५८ में मुझे आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगातट पर गुरुकुल खोल दिया जाये, तब भी २२ फाल्गुन १९५८ की शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुँचने से पहिले मेरे मन में बहुत से संकल्प उठे थे। उस समय से सब संकल्प स्वप्नवत् ही थे। उनमें से कुछ तो जागृत में परिणत हो आशा से बढ़कर पूरे हुये कुछ असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये हैं। स्वप्नावस्था में पड़े हुये असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिये कर देता हूँ कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करने वाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सकता, उसमें वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे जो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि ५० लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उसके सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जावे। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिये बाहर जाना मेरे लिये कठिन हो गया और जिनका इस संस्था को चलाना कर्तव्य था उनमें बहुत से उसको तोड़ने के लिये ही कमर बाँध बैठे। तब धन कौन लाता ? फिर शनैः-शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाये, जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिये मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे-

(क) एक वर्कशॉप (कारखाना) खोला जाये जिसमें एंजन लगा कर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस-पास के जंगल में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाये। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष

बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाये, और उन्हीं के फूलों (टेसू) से रंग बनाया जावे। सेंभल की रूई इकट्ठी करके बेची जाये। पास के जंगल से शीशम और तुनु की लकड़ी सस्ती मिल सकती है। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान बनवा कर बेचा जाये। इनके अतिरिक्त और भी व्यवसाय कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियाँ बहुत होती हैं और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक, सुश्रुत में दिये नुस्खों के अनुसार औषधियाँ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिये। हुकुम हुआ कि ना मंजूर।

अब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरुष को व्यवसाय के कामों के लिये धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल देखने आये। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिये क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि ५० हजार रुपये वह देंगे, शेष धन इकट्ठा करने का मैं यत्न करूँ। परन्तु जहाँ घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहाँ बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजीत सिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुये। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि वह स्वप्न जागृत में परिवर्तित होता तो जहाँ एक ओर गुरुकुल चलाने के लिये स्थिर आय होती, वहाँ ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि १२०० पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमानतः १७५ बीघे में खेती होती है। ३२५ बीघे के लगभग में नाला आदि हैं। १०० बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष ६०० बीघे में से ४०० बीघे को नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसीलिये खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई, कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों से, उनके खाली समय में, कराया जायेगा। पैदावार बढ़ाने के लिये ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवा कर खेती की पैदावार बढ़ाई जावे। मेरा अनुमान था कि यदि ४०० बीघे और नौतोड़ हो जाये तो वर्ष भर में से नौ महीनों के लिये अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया

था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की वाटिकादि में काम करने लग गये थे। परन्तु प्रबन्धकर्ता सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी, परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गये और इतना निरुत्साहित किया गया कि उनका जोश ठण्डा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिये किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईंटों के भट्टे के लिये लकड़ियाँ कटवाई गई। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिये स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिये निवास स्थान उसी भूमि में बनवाने का विचार किया, जहाँ नया आदर्श ग्राम बनाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहाँ उपाध्याय गृह गुरुकुल के समीप बना लिये, वहाँ ग्राम के लिये स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुई ही, वर्ष के अन्त में, लैप्स हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धन-राशि को जमीन पर लगाना चाहिये। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था। उनका नकदी लगान इतना वसूल होता था कि ४० पैसे सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नगर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरुषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इंकार कर दिया। गुरुकुल को तो ५० हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य ६० हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा लाहौर से दे दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जायेगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूँ। अब यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिये वर्तमान कार्यकर्त्ताओं को आय बढ़ाने के

लिये उपरोक्त साधनों को प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिये, यदि वे उसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गये। गतकर, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुन सिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आये और चले गये। अन्त में चैत्र, १९७३ को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों को संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करने वाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः-शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जायेंगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिये अधिकतर गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आये जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहिले कुछ वर्षों के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्वशाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्त आवश्यक समझ कर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़े। परमेश्वर ने दिन, शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिये। यदि अध्यापक ऐसे मिलें जो दिन की पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन के अन्य समयों में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब आँखों और दिमाग को कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ यह क्रम चला, शायद इसलिये कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर जब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गये तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श को ले जाने में करता उतनी ही रात को पढ़ाई अधिक हो जाती।

शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुछ सार दिखाई दे तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देंगे।

तीसरी कुछ कल्पनायें मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठ्यपुस्तकों की है। आज कल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली (इस युग के लिये) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगें नई फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिये था। यही सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्रों रुपये व्यय करके प्रिन्टिंग मशीन, ईन्जन तथा टाइप का विस्तृत सामान भी मंगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकाल कर पुस्तकें तैयार की गईं, वैदिक मैगजीन आदि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय इन प्रान्तों में केवल इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर पहुँच गया था, पर अकस्मात् प्रेस-भवन में आग लग गई और दस बारह हजार का सामान जल कर राख हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्यपुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया। फिर प्रेस दिल्ली में गया, उसका बड़ा भाग ६५०० रूपये में बेचा गया, और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीन आदि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पड़ी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति प्रेस को बढ़ाने के लिये माँगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर कि मैंने सहस्रों रुपये प्रेस में बरबाद करा दिये हैं, मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा।

प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिये जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ हजार रुपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिये उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जायेगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिये आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिये,

गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षाप्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रखा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिये बल देता रहा हूँ और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं - इस कहानी से यहाँ कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसमें अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही सन्दिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गये हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न न हुआ तो जहाँ ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी, वहाँ कुछ वर्षों के पीछे इससे आय भी अच्छी होने लग जायेगी।

फिर आयुर्वेद के लिये भी कुछ वर्षों से मैंने प्रस्ताव कर रखा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम.ए. आये थे, उसी वर्ष बहुत से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिये, प्रतिज्ञायें हुई थीं कुछ धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मंगा लिये गये थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग को खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रख कर अनाटमी, सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के स्कूल ऑफ मेडिसिन को गवर्नमेन्ट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग को खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल की शासक सभा में स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल को अर्पण कर दे तो आशा है कि जहाँ गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता, मद्रास आदि भटकते फिरने से बच जायेंगे वहां बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनी की शिक्षा के लिये भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिससे अधिकारीगण इन कार्यों के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उसका निरन्तर १६ वर्षों तक काम करते हुये, स्मरण नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द युद्ध से मुक्त होने पर ही पुनः जागे हैं। गुरुकुल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके कि सात वर्षों तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक

साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूँगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूँगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियाँ सम्पादन करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम में फँसना पड़ा। जहाँ प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल हिमालय के पवित्र चरणों में जाह्नवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिये बल मिलेगा, वहां मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल करने के लिये आक्रमण कर दिये। इस विषय में मनुष्यों के प्रति, वाणी या लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सका। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान को क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से, अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्म में अवश्य काम आवेगी। इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूँ। **परन्तु अपनी मृत्यु के पहिले यदि एक बार यह दृश्य देख लूँ कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान् स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में डालते हुये ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आने वाले जन्म की तैयारी कर सकूँगा।**

ब्रह्मचारियों की आत्माओं पर निःस्वार्थ भाव को भलि प्रकार अंकित करने तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिये तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवं उनके पालन-पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े। गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा-विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिये नियम धारा ६ के नीचे नोट दिया गया था- 'जब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा तो समस्त ब्रह्मचारियों का शिक्षा-दान तथा उनका पालन पोषण बिना किसी व्यय लिये किया जायेगा।' मैंने बहुत बार हाथ-पाँव मारे कि पर्याप्त धन (५० लाख रूपये) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिये परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला। फिर जब संवत् १९६७ में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग-पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिये लौट आने के लिये

बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उससे दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रखा गया। यह देखकर कि कुछ काम करने वाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवायें काम करना छोड़ देंगे, मैंने उस अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से श्री प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उससे ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है। मैं तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्तावकर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिये शुल्क स्वीकार कर लिया। मैंने अपनी निज प्रतिज्ञानुसार मौन धारण किये रखा और सम्मति भी कुछ न दी।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव सा ही हो गया है। क्योंकि जहाँ प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्तव्य को समझने वाले संचालक हैं वहाँ धन पर्याप्त नहीं, और जहाँ शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहाँ ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिये भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटते हैं। मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दीखता।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाठशालाएँ खोल दी जायें, जिनमें बालक गुरुकुल के लिये तैयार किये जायें। चार वर्ष की पाठविधि हो। जनता की सभाएँ बना कर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाये, जिससे उस ओर का कोई भी बच्चा (लड़की हो या लड़का) अशिक्षित न रह जाये। गुरुकुलों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को असली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएँ खुलवाने का यत्न करता रहूँ। उन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक-धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिये ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजली देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काम के लिये उत्तेजित करने का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वे कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिये हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत सी मेरी आकांक्षाएँ थीं जो पूरी नहीं हुई, उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के अधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद लिये ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सच्चे हितैषी (अधिक दान देने वाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके नियन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा में बैठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद दृष्टि में नहीं रख सकते। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिये एक पृथक् नियन्त्रण परिषद् बनाई जावे जिसमें दानियों, स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस, ग्यारह वर्षों से कर रखा है। परन्तु ऐसा नियम-संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सकता है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति (कोरम) ठीक हो गई और बहुपक्ष अनुकूल भी था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्यपुरुषों ने समझ रखी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यों के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिये जो भी उपाय उचित हों उनसे आर्य जनता को उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसीलिये मैंने आर्यजनता की सेवा में अपने उद्गार उपस्थित करने का यत्न किया है।

'स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण
व्यक्तित्व" - से साभार

उदार श्रद्धानन्द

स्व0 आचार्य अभयदेव

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन की सम्पूर्ण विशेषता को मैं जिस एक विशेषण से कह सकता हूं, वह है 'उदार' उदार श्रद्धानन्द पुकार लेने से उनका सारा जीवन, उनके जीवन की एक-एक महान् घटना आंखों के सामने चित्रित हो जाती है। स्वामी जी के जिन दोषों की तरफ लोग इशारा करते हैं ये भी उनमें उदारता की ही अति के कारण थे। पर इसे भाग्यचक्र के सिवाय और क्या कहूं- बदकिस्मती के सिवाय और क्या पुकारूं कि उनके जीवन के अन्तिम दिन- वे शुद्धि और संगठन के दिन- ऐसे बीते हैं कि बहुत से लोगों के (और ऐसे अनजान लोग आम जनता में बहुत हैं) दिलों में श्रद्धानन्द का सम्बन्ध अनुदारता, संकुचित साम्प्रदायिकता के साथ जुड़ गया है। उन द्वारा जगत् प्रसिद्ध गुरुकुल की स्थापना, उन द्वारा आर्य समाज का शानदार नेतृत्व, सन्यासी बनकर उनका मनुष्यमात्र की सेवा में लग जाना आदि सम्पूर्ण जीवन को लोग भूल जाते हैं और अन्तिम बलिदान के कारण उन्हें एक शुद्धि संगठन के नेता के तौर पर याद रख रहे हैं। पर आम लोग तो यह भी नहीं जानते कि संगठन के विषय में और शुद्धि के विषय में स्वामी जी के विचार कितने उदार थे। यह उनके नजदीक रहने वाले ही जानते हैं कि उनके संगठन और शुद्धि के विचार उनसे बहुत भिन्न थे जो कि उस समय की जहर के विचार थे या जो कि कट्टर लोगों के विचार थे। उनका उदार हृदय तो संकुचित ढंग से विचार ही नहीं सकता था।

उन्हीं शुद्धि-संगठन के दिनों की बात है कि एक बार मैं रात्री के नौ बजे देहली में स्वामी जी के स्थान पर पहुंचा तो देखा कि स्वामी जी ने अपने रहने के स्थान पर दीपावली जगा रखी है। जरा एक काम से शहर में गया तो वहां एक और बड़ा मकान दीवाली के दीपकों से जगमगाता हुआ दीखा। पूछने पर पता चला वह मस्जिद थी। उस दिन (तारिख याद नहीं) टर्की के कमाल पाशा का एक विजय का दिन मनाया जा रहा था और सारे देहली शहर में या तो मस्जिदों में दीवाली मनाई गई थी या स्वामी श्रद्धानन्द जी के निवास पर (उसी श्रद्धानन्द बलिदान भवन पर जिसमें उनका बलिदान हुआ था।) एक प्रतिष्ठित साथी ने हंसी उड़ाते हुस स्वामी जी से पूछा भी कि 'स्वामी जी ? आपने यह क्या कर रखा है।, स्वामी जी ने जवाब में गम्भीरता से यह आशय प्रकट किया- "हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए कमाल पाशा की विजय न्याय की विजय है, अतः यही हमारी भी विजय है।"

जिन सिख भाईयों (तत्खालसों) ने एक समय स्वामी जी के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन उठा रखा था, उन्हीं के लिये कुछ दिनों बाद, हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी साठ वर्ष की उमर में जेल काटी। उनके जीवन भर में यह रहा है कि वे मौका पड़ते ही दिखला देते थे कि विरोध रखते हुए भी उनके विशाल हृदय में किसी के प्रति भी दुश्मनी का क्षुद्र भाव नहीं ठहर सकता था।

गांधी जी ने स्वामी जी के जीवन पर लिखते हुए लिखा था कि "यदि मैं उन्हें कुछ भी जानता हूं तो कह सकता हूँ कि प्राण छोड़ते समय स्वामी जी के मन में अपने हत्यारे के विषय में यह विचार आया होगा कि परमेश्वर उस नादान को क्षमा करें"

स्वामी जी इतनी जल्दी करुणार्द्र हो जाते थे- इतनी जल्दी क्षमा कर दिया करते थे कि गुरुकुल में उनके सहयोगी उनकी इस आदत के कारण दिक थे और समझते थे कि उनकी इस आदत से गुरुकुल को नुकसान पहुंचता है। गुरुकुल के सहयोगियों की यह शिकायत भी ठीक थी कि स्वामी जी पैसा खर्च करने में भी अति उदार थे। परन्तु इस तरफ अधिक ध्यान इसलिए नहीं खिंचता था कि स्वामी जी के इस उदारता के कारण ही पैसा उन्हें मिलता बहुत था।

स्वामी जी का आर्य समाज पर कैसा प्रभाव था ? इस विषय में मुझे एक पंजाबी प्रतिष्ठित आर्य समाजी मित्र के हाल में बातचीत में कहे शब्द बहुत ठीक लगे। उन्होंने कहा कि कालेज-पार्टी की अपेक्षा गुरुकुल-पार्टी में जो एक स्पष्ट सुधार में आगे बढ़ने की प्रवृत्तिं और उदारता दिखाई देती हैं, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी के महान् नेतृत्व से आई है और स्वामी जी के उठ जाने से अब गुरुकुल पार्टी में भी संकीर्णता के चिह्न दिखाई देने लगे हैं इस समय संकीर्णता से हमें ऊपर उठाने वाला कोई व्यक्ति आर्य समाज में नजर नहीं आता।

स्वामी जी ने सन्यासी होने पर जो आर्य-जाति पर उदार आशय के लेख लिखे थे, जो फिर आर्य समाज से अपने मतभेद भी उन्होंने लिख डाले थे और जो 'सत्यार्थ प्रकाश' के उत्तरार्द्ध के खण्डनात्मक समुल्लासों के विषय में उनकी सम्मति थी, उन सबके कारण बहुत से कट्टर आर्य समाजी उनसे बिगड़ गये थे और उन्हें आर्य समाज से बाहर का समझने लगे थे। गांधी जी ने जब आर्य समाज पर टीकाटिप्पणी की थी, तब गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० सत्यकेतु जी ने जो एक लेख गांधी जी के समर्थन में लिख दिया था, उस पर जहां बहुत से आर्य समाजी भाई इतने बिगड़े थे कि कइयों ने पं० सत्यकेतु जी का स्नातक-प्रमाणपत्र छील लेने तक के लिए पत्र लिखे तथा **आर्यमित्र** आदि पत्रों में उन पर कठोर आक्षेप किये गए, वहां स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पं० सत्येतु जी के इस

लेख पर सम्मति दी थी कि "सत्यकेतु ने जो कुछ लिखा है, उसे मैं अपनी दी हुई उदार शिक्षा का ही परिणाम समझता हूं।"

यहां जरा पाठक यह भी सोच लें कि गांधी जी ने अपने उस लेख में यदि किसी को बुरा भला कहा था तो वह केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। पर स्वामी श्रद्धानन्द जी गांधी जी के उस लेख के पक्ष पोषक स्नातक को अपनी शिक्षा का सुफल देने वाला स्नातक कहकर उसके समर्थन में सम्मति दे रहे थे। ऊपर जो मैंने पं० सत्यकेतु जी के लेख के विषय में श्रद्धानन्द जी की सम्मति उद्घृत की है, वह उनके अपने हाथ से लिखे हुए एक पत्र से ली है और वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है। यदि पाठक चाहेंगे तो मैं वह पत्र प्रकाशित कर देने में प्रसन्न हूंगा। अस्तु।

स्वामी जी महाराज की उदारता की कथा तो बहुत लम्बी है क्योंकि स्वामी जी ने सत्तर वर्ष के जीवन में जो एक से एक अद्भुत कार्य किये हैं, उन सबका मूल- उन सबका रहस्य- उनका यह उदारता का ही महान् गुण था। अतः उनके जीवन से आर्य समाज को, हिन्दू और मुसलमानों को यदि कुछ सीखना चाहिए तो वह उदारता है। पाठक अनुभव करें कि स्वामी श्रद्धानन्द जी के पवित्र नाम को लोगों के साम्प्रदायिक, संकुचित क्षुद्र भावों को उत्तेजित करने में इस्तेमाल करना कितना अनर्थ करना है ? सचमुच स्वामी जी को केवल शुद्धि और संगठन के संकीर्ण विचारों के प्रचारक के तौर पर पूजना, याद करना उनकी हत्या करना है। बेचारा अब्दुल रशीद तो उनकी हत्या क्या करता ? वह तो उनको अमर कर देने में सहायक हुआ है। पर अमर होते हुए स्वामी जी को हम मार देंगे- कम से कम अपने लिए मार देंगे- यदि हम उस असली महानता को जीवित न रखेंगे अर्थात् उनकी उदारता की पूजा न करेंगे।

श्रद्धानन्द तो गुरुकुल जैसी अपनी उदार महान् कृतियों द्वारा जीवित रहेंगे ही, गुरुकुल के उदार स्नातक तथा अन्य उनके सच्चे अनुयायी उनको अमर करा देंगे। देहली की जामा मस्जिद के मंच से उनका व्याख्यान कराने वाले मुसलमान भाई भी उनका नाम जीवित रखेंगे किन्तु मैं तो शुद्धि संगठन से प्रेम रखने वाले हिन्दू भाईयों से कहना चाहता हूं कि आप भी स्वामी जी की उदारता के उपासक बनिये। यदि आप अनुदार श्रद्धानन्द को पूजते हैं तो आप किसी और को पूजते हैं, श्रद्धानन्द को नहीं पूजते। आपको श्रद्धानन्द से बल, स्फूर्ति और जीवन तभी मिलेगा जब आप उस महान् आत्मा की उसकी उदारता के कारण पूजा करेंगे। तब स्वामी जी का अभीष्ट सफल हिन्दू संगठन और उनकी अभीष्ट शुद्धि भी सम्पन्न हो जायेगी। उदार श्रद्धानन्द की जय हो।

('अलंकार' के श्रद्धानन्द विशेषांक जनवरी १९३५ में प्रकाशित)

श्रद्धा का आनन्द

स्व० आचार्य अभयदेव

आर्य समाज के सन्यासी प्रायः अपना नाम आनन्दान्त रखते हैं। आर्य समाज के प्रवर्त्तक महान् सन्यासी का नाम भी तो ऐसा ही था- दयानन्द। ऐसा लगता है कि मानों सन्यासी होकर मनुष्य आनन्द (आनन्द मग्न, आनन्द रूप) हो जाता है। बल्कि अधिक ठीक यह कहना होगा कि जब किसी महानुभाव को एक उच्चतर आनन्द की झांकी मिल जाती है, तभी वह उस आनन्द को पा लेने के लिये उसमें बाधक रूप बन्धनों को तोड़ देना चाहता है, त्याग देता है, सन्यास कर देता है, अर्थात् सन्यासी होता है। उच्च आनन्द का दर्शन ही मनुष्य को सन्यासी उच्चतम-आश्रमस्थ बनाता है।

ऋषि दयानन्द ने दया के आनन्द को उपलब्ध किया था। 'दयाया आनन्दो विलसति सदा यस्य पुरतः' ऐसे संस्कृत श्लोक उन्होंने अपना नाम कीर्त्तन करते हुए लिखे भी हैं। उन्होंने दया के आनन्द को उपलब्ध ही नहीं किया था, सिद्ध भी किया था। दुःख क्लेश से सताये हुए प्राणियों को, विदेशियों से पादाक्रान्त हुए इस आर्यावर्त्त देश को, अज्ञान अन्धकार तथा जड़ता से ग्रस्त हुई एवं पक्षपात, राग-द्वेष, भय आदि विकारों से नाना प्रकार से पीड़ित समस्त मानव जाति को ही देखकर उनकी महान् आत्मा सहज भाव से करुणार्द्र हुई, दयायुक्त हुई। उनकी इस दिव्य दया का आनन्द ही था जिसके कारण वे जीवन भर विरोधियों के ईंट-पत्थर आदि की मूर्खतापूर्ण मार सहते रहे और अन्त में हमारे लिए विषपान तक कर गये, पर सदा अपनी दया के प्रेम में प्रसन्न और आनन्दित रहे।

इसी तरह मुंशीराम से श्रद्धानन्द होने वाले हमारे कुलपिता ने सन्यासी बनते समय जिस महान आनन्द की उपलब्धि की, वह श्रद्धा का आनन्द था। उन्होंने सन्यासी होने पर लाहौर समाज के उत्सव पर जो श्रद्धा पर व्याख्यान दिया था, वह आज भी हमें ऊँचा उठने को ललकार रहा है, आज भी ज्योति स्तम्भ का काम कर रहा है। वह व्याख्यान वस्तुतः फिर-फिर पढ़ने लायक है, आज भी ताजा है। उन्होंने उसके बाद जो साप्ताहिक पत्रिका गुरुकुल से निकाली, उसका नाम 'श्रद्धा' रखा था। अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति- यह गीता का श्लोक वे अक्सर बोला करते थे। ज्ञानयुक्त श्रद्धा रखने के कारण वे कभी भी संशयात्मा, किंकर्त्तव्य विमूढ़ या ढुलमुल एक क्षण के लिये भी नहीं होते थे। अन्दर से हमारा नाश कर देने वाला संशय-राक्षस उनके सामने फटक नहीं सकता था। वे सदा श्रद्धापूर्ण थे, अतएव अजेय थे। वे वीर थे।

वे बीहड़ जंगलों को चीरकर अपना नया सीधा रास्ता बनाने वाले शेर थे। दुनिया के उन श्रद्धालुओं की बनाई हुई लम्बी चौड़ी चक्करदार पगडंडियों में घूमते हुए सड़ना उन्हें सह्य न था। दुनियापन उन्हें फुसला नहीं सकता था, उनके सत्य के मार्ग पर कोई रुकावट नहीं खड़ी कर सकता था। जो सत्य होता था, कर्त्तव्य था, उसे वे करते ही थे। अतः वे उन अंग्रेजों की संगीनों के सामने छाती तानकर खड़े हो सकते थे जिनके साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। मार्शल लॉ के दिनों में जब पंजाब के आसमान में उड़ने वाले पक्षियों के भी पर जलते थे तब वे पंजाब में घूम-घूमकर पंजाब को होश में लाकर वहां राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन सफलतापूर्वक करा सकते थे और अन्त में अम्लान-चित्त से, बल्कि उसकी हितकामना करते हुए अब्दुल रशीद की गोली भी खा सकते थे। सच तो यह है कि उनके लिये कुछ भी 'असम्भव' कहलाने वाला असम्भव नहीं था। यह सब इसीलिए था क्योंकि वे श्रद्धा के आनन्द में चूर थे, उन्होंने यह सोमरस अघाकर पी रखा था। तो उनके सामने दुनिया की कौन सी बाधा ठहर सकती थी ?

ब्यास जी ने योग भाष्य में श्रद्धा के विषय में क्या सुन्दर कहा है- 'कल्याणीव जननी योगिनं पाति।' श्रद्धा कल्याणी माता की तरह योगी की रक्षा करती है। अध्यात्म-मार्ग पर चलने वाले योगी को तो न केवल इस स्थूल जगत् के किन्तु अन्य जगत् के बड़े भारी-भारी शक्तिशाली असुरों के मुकाबले में आना पड़ता है, वहां श्रद्धा की शक्ति ही माता की तरह उनकी निरन्तर रक्षा करती है। हमारे इस जगत् में भी उन विकट घड़ियों में, जबकि निराशा की घनघोर घटा छा जाती है। और कुछ भी नजर नहीं आता, जबकि लगातार आपत्तियों से घबराकर मनुष्य का धैर्य समाप्त हो जाता है, जबकि असुरों के सामने बेदम और परास्त होकर हम अपने दिव्य हथियार छोड़ने को तैयार हो जाते हैं, वे ही लोग अडिग, अटल और अजेय रहते हैं जो श्रद्धामय दिव्य कवच से परिवेष्टित होते हैं, केवल उन्हीं की शांति अक्षुण्ण बनी रहती है जो श्रद्धा माता की गोद में शरण पा चुके होते हैं। अतः धन्य हैं वे लोग जिन्हें श्रद्धा प्राप्त हुई है और जिन्हें श्रद्धा का आनन्द प्राप्त हुआ है।

ऐसे ही धन्य हमारे श्रद्धानन्द जी महाराज थे। ईश्वर करे कि वे श्रद्धा के जिस दिव्य आनन्द की अपने जीवन द्वारा वर्षा कर गये हैं, उसके कुछ छीटें पाकर हम भी कुछ अंश में श्रद्धामय और दिव्य सैनिक बन सकें और अपने जीवन को इस आनन्द द्वारा कृतकृत्य कर सकें।

(२५ दिसम्बर १९८८ के 'आर्यजगत्' से उद्धृत)

उत्तर के सुमेरु स्वामी श्रद्धानन्द

आचार्य चतुरसेन शास्त्री विख्यात उपन्यासकार

उन्नीसवीं शताब्दी के अपराह्न में पंजाब में चार महापुरुष ऋषि दयानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में पंक्ति में आ खड़े हुये। इनमें एक थे महात्मा हंसराज दूसरे थे महात्मा मुंशीराम (पीछें स्वामी श्रद्धानन्द), तीसरे थे लाला देवराज और चौथे लाला लाजपतराय। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी.ए.वी. कालेज, महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी और लाला देवराज ने जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की तथा लाला लाजपतराय ने देश में स्वतन्त्रता की धूम मचाई इन चार मंगल मूर्तियों का उत्तर भारत में ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा कि उनका मूल्य किन्हीं भी शब्दों में नहीं आंका जा सकता।

महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय ने जब लाहौर में, डी.ए.वी. कालेज की स्थापना की तब देखते ही देखते यह कालेज आधुनिक पद्धति पर सहस्र-सहस्र युवकों को ज्ञान-दान देने लगा और उनके हृदय में आर्य संस्कृति तथा वैदिक सभ्यता का बीजारोपण करने लगा।

इन दिनों स्त्रियों को पढ़ाना-लिखाना पाप समझा जाता था और लोगों में यह विश्वास था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ जल्दी विधवा हो जाती हैं। स्त्री-शिक्षा के हिमायतियों को लाठी खानी पड़ती थी। ऐसी अवस्था में लाला देवराज ने जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की, जिसने पंजाब में स्त्रियों के जीवन की कायापलट कर दी। परन्तु उत्तर भारत में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह हुआ स्वामी श्रद्धानन्द के द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के रूप में। यह ऐसा विद्यामन्दिर था, जहां यूनिवर्सिटियों और पाश्चात्य शैलियों का सर्वथा त्याग किया गया। वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्म का भारत में प्रचार करना इस विद्यामन्दिर का मूल मन्त्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। यह एक नवीन परिपाटी थी, जिसने बड़ी शीघ्रता से समस्त उत्तर भारत का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। संपूर्ण उत्तर भारत में स्वामी श्रद्धानन्द के इस सु-उद्योग का सुफल अंकुरित हुआ लोगों के हृदयों में स्वप्न से जागे हुओं की भांति अपनी भाषा अपनी संस्कृति और अपने देश के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुये। इस विद्याकेन्द्र के स्नातक प्रथम श्रेणी के लेखक सिद्ध हुए, जिन्होंने साहित्य को विचार, विज्ञान और प्रगति से ओतप्रोत कर दिया। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि आज के जागृत

उत्तर भारत के मूलप्रेरक स्वामी श्रद्धानन्द थे और उन्हें **उत्तर भारत का सुमेरु** कहना सर्वथा उपयुक्त है। इन्हीं स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में प्रस्तुत हैं मेरे अपने व्यक्तिगत संस्मरण।

पहली और अन्तिम भेंट

कुछ ऐसे कारण थे कि उनसे मिलते हुए मैं हिचकता था लेकिन डा० युद्धवीर सिंह उस दिन मुझे उनके पास घसीट ले गये। किसी सार्वजनिक संस्था को कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। प्रातःकाल का समय था और स्वामी जी स्नान करके स्वस्थचित बैठे थे। प्रसन्न मुद्रा में थे। हमने संक्षेप में अपना अभिप्राय कह सुनाया। उन्होंने चुपचाप सुना। एक-एक गिलास ताजा दूध आग्रहपूर्वक पिलाया, इधर-उधर की बातें पूछीं और एक हजार का चेक हस्ताक्षर करके हमारे हवाले किया। आश्चर्य और प्रसन्नता से हम लोग अभिभूत हो गये। लखपति, करोड़पति साहूकार भी इतनी आसानी से अंटी ढीली नहीं कर सकते क्षण भर के लिए स्वामी जी का ध्यान दूसरी ओर गया तब मैंने डाक्टर साहब की बगल में टहोका मारकर आहिस्ते से कहा- "यह तो बड़ा मालदार साधु है। कुछ और ज्यादा क्यों न वसूला जाये।" त्यों ही वह वज्रदृष्टि मेरी औंर घूमी एक गूढ़ मुस्कान ओठों में भर कर वह बोले- 'आज आप कैसे निकल पड़े आप तो कहीं आते-जाते नहीं।'

जिस बात से डर रहा था वही सामने आई। समझ गया, अब खैरियत नहीं। ये हजार रुपये और उनका सूद अभी वसूल किया जायेगा। मैंने धीरे से कहा- "डाक्टर साहब खींच लाये।"

"यह मेरा ख्याल है, परन्तु आप एक उदीयमान साहित्यकार हैं और साहित्यकार एकान्तप्रिय होते हैं। परन्तु अधिक एकान्त में यह दोष पैदा हो जाता है कि साहित्यकार की दृष्टि में कल्पना प्रधान हो जाती है, सत्य पीछे छूट जाता है। जहां तक भावना का प्रश्न है, इससे उतनी हानि नहीं होती, पर जब घटनाओं का प्रश्न आता है और उनसे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है और दुर्भाग्य से वह व्यक्ति यदि सार्वजनिक होता है तब कभी-कभी बहुत भद्दी भूलें हो जाती हैं जो पीछे किसी मूल्य पर भी परिमार्जित नहीं की जा सकतीं।"

मतलब मैं स्पष्ट ही समझ रहा था। पर स्वामी जी कोई बात अधूरी छोड़ते नहीं थे, कोई बात उधार खाते डालते नहीं थे। उन्होंने बिना इस बात की परवाह किये तनिक कठोर भाषा में कहा- "अब आप इस कहानी की बात लीजिये जिसमें मुझे और

मेरे पुत्र को आपने पात्र बनाया है, एक बहुत गंभीर आरोप आपने उसमें मेरे ऊपर लगाया है। मैं नहीं जानता, कहां से ये तथ्य आपको मिले और उनमें आपने कितना कल्पना का सहारा लिया, परन्तु मैं तो अभी ज़ीवित था, यहीं इसी नगर में रहता था, आप यदि मेरे पास आते तो आपको मेरे पास तो सत्य की ही उपलब्धि होती और तब शायद आप की यही कहानी कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लेती।"

मुझमें शक्ति नहीं थी कि इस महापुरुष से विवाद करता या जवाब देता। असल बात यह थी कि उस कहानी में कुछ अत्यन्त गुप्त रहस्यों का उद्घाटन हुआ था, जिनके कुछ आभारों के सम्बन्ध में एक शब्द भी कह नहीं सकता। वक एक अति भयानक राजनीतिक कहानी थी और उसमें भारत में घटित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटना का संकेत था, जिसका सम्बन्ध दिल्ली के कुछ फांसी प्राप्त क्रान्तिकारी से भी था। कहानी "चांद" में छपी थी और उसके कारण "चांद" की तीन हजार की जमानत जब्त हो चुकी थी। स्वामी जी उस कहानी को बख्शेंगे नहीं यह मैं जानता था और इसी कारण उनकी आँखों के आगे आने के सब अवसरों से बचता रहता था। पर अब तो आमना-सामना हो चुका था। मैं नीचे सिर झुकाये निरुत्तर बैठा रहा एक शब्द भी मैंने नहीं कहा।

स्वामी जी ही बोले- "अभी आप नवयुवक हैं। खून आपका गर्म है। पर कभी आप मेरी उम्र को भी पहुंचेंगे, किन्तु, कदाचित् आपका जीवन उस भयानक बवंडर में न फंसे, जिसमें मुझे फंसना पड़ा, क्योंकि आप तो साहित्यिक है, सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं। विरोध सत्ताओं के शक्ति संचालन का कदाचित् आपको अवसर मिले ही नहीं। ऐसी स्थिति में आप अपनी भूल को कभी समझ न सकेंगे। परन्तु मैं तो यह समझता हूं कि साहित्यकार को समाज के समूचे ढांचे को उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है जिस प्रकार एक चिकित्सक को शरीर की भीतरी बाहरी पेंचीली बनावट, साथ ही जीवन क्रिया के मूलाधारों को जान लेना आवश्यक है। इसके लिए साहित्यकार ही रहना चाहिए।"

मैंने तो इस पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। जब हम चले तब वह चैक और वह दूध बहुत बोझिल हो रहा था और जीने से नीचे उतरते हुए मेरे पैर लड़खड़ा रहे थे। वज्रवाक्य तो जैसे तप्त शलाका से मेरे हृदय-पटल पर लिख दिये गये। आज चालीस बरस बीत जाने पर भी वे ज्यों के त्यों मेरे अन्तस्तल पर अंकित हैं।[1]

---

(१) संभवतः यह लेख सन् १९६० के आसपास लिखा गया होगा। (सं०)

और जब कत्ल हो गये

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद मुझे अप्रत्याशित रूप में जल्दी-जल्दी उस जीने की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ा। अच्छी तरह मुझे उस दिन की प्रत्येक बात याद है- खारी बावली में मैं दाल चावल खरीद रहा था। एक आदमी दौड़ता हुआ जा रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था- "स्वामी जी कत्ल हो गये! स्वामी जी कत्ल हो गये।"

बाजार में हलचल मच गई और मैं तत्काल ही लपकता हुआ नये बाजार की ओर दौड़ा। कुछ आदमी सड़क पर भीड़ बनाकर खड़े थे, कुछ जीने पर चढ़ रहे थे। भीड़ चीरकर जब मैं ऊपर पहुँचा तब देखा सेवक धर्मसिंह की जांघ से रक्त बह रहा था, पर वह दीवार का सहारा लिए खड़ा था। पलंग पर स्वामी जी लहूलुहान पड़े थे। तीन गोलियाँ उनके सीने के पार हो चुकी थीं। स्नातक धर्मपाल ने कातिल को अपनी बलिष्ठ बाहों में दबोच लिया था और वह भाग निकलने को छटपटा रहा था। रिवाल्वर अब भी उसके हाथों में था। स्वामी जी का प्राणान्त हो चुका था। उनका मुंह और उनकी आंखें आधी खुली थी और इन्द्र जी उनके ऊपर झुके हुये थे। नीचे और ऊपर की अब भीड़ बढ़ गई थी। शोर भी बहुत हो रहा था। कोई एक व्यक्ति चाकू हाथ में लेकर कातिल को कत्ल कर डालने को जोर कर रहा था और लोग उसे पकड़ रहे थे। पुलिस आई और उसने कातिल को कब्जे में किया। लाला दीवानचन्द्र आये और आँखों में आंसू भरकर स्वामी जी का सिर गोद में लेकर उठ गये। डाक्टर अंसारी और डा० अब्दुल रहमान भी आ गये थे। पर अब क्या हो सकता था। डाक्टर अंसारी की आँखें गीली थीं। कातिल अधेड़ उम्र का मुंशी जैसा आदमी था। जब पुलिस ने उसे हथकड़ी पहना कर खड़ा किया तब मुस्करा दिया और कहा "डाक्टर साहब, आदावअर्ज।" इससे भीड़ में बहुत उत्तेजना फैल गई और डा० अंसारी पुलिस के संरक्षण में वहां से चले गये।

और फिर दिल्ली के इतिहास में अभूत-पूर्व उनकी शवयात्रा निकली। दिल्ली और पंजाब के तरुणों का उछलता हुआ रक्त जोश मार रहा था। अनगिनत भजन-मंडलियाँ भजन गाती जाती थीं। उनमें से एक मैं भी सम्मिलित था। आप कदाचित् विश्वास न करें, मैं स्वयं चीख-चीख कर गा रहा था, कुछ अपने ही द्वारा रची गई पंक्तियों को।

उसके बाद एक सभा कम्पनी मांग में हुई, जहाँ लोगों के सिर ही सिर नजर आते थे। उस सभा की एक बड़ी घटना मुझे याद है-लाला लाजपतराय का भाषण। लाला जी भाषण नहीं दे रहे थे, वह तड़प रहे थे। कह रहे थे- "श्रद्धानन्द, तुम्हारे जीवन पर भी मैंने सदा रश्क किया और मौत पर भी रश्क करता हूं। भगवान् मुझे ऐसी ही मौत दे तो मैं इतना समझूं कि मैं तुमसे आगे न बढ़ सका तो पीछे भी न रहा।" और झर-झर आंसू उस नरशार्दूल की आंखों से बह रहे थे।

एकता का सूत्रधार – श्रद्धानन्द

डॉ. धर्मपाल

संसार में कभी-कभी ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं जो अपने, त्याग, तपस्या, परमार्थ एवं बलिदान से नए युग का और नए इतिहास का निर्माण करते हैं। उनके पदचिन्हों पर चलकर आने वाली पीढ़ियाँ अपने को धन्य मानती हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में नई दिशा प्रदान करने वाले महापुरुषों की श्रृंखला लम्बी है और हमें ऐसे महापुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिए ताकि हम उनके जीवन और कृतित्व से प्रेरणा ग्रहण कर सकें तथा सामाजिक कल्याण के कार्य करके अपने जीवन को अर्थवता तथा सार्थकता प्रदान कर सकें। युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ऐसे ही महामानव थे। वे एक ऐसी पारसमणि थे जिसके स्पर्श से अनेक पाप-पंक में निमग्न मनुष्य स्वर्ण बन गए और उनका तेजोदीप्त निर्मल सुरभित जीवन दूसरों के काम में लग गया। ऐसे ही महापुरुषों ने सर्वमेध यज्ञ तक करने में भी संकोच नहीं किया। वे अपनत्व से ऊपर उठ गए थे। वे सबके लिए हो गए थे। और ऐसे ही एक महामानव थे स्वामी श्रद्धानन्द जो मात्र एक बार स्वामी दयानन्द के ओजस्वी, तेजस्वी स्वरूप को देखकर, उसके अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर, उनकी ईश्वर और धर्म की व्याख्या सुनकर उनके हो गए। स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्व नाम मुंशीराम था। अनेक दुर्व्यसनों से ग्रस्त मुंशीराम का जीवन स्वामी दयानन्द के उपदेशामृत का पान करके सुवर्णमय हो गया। उनका सारा संसार ही आलोकित हो गया। उनकी सभी दशों दिशाएँ सुवासित हो गयीं। वह जिस दिशा में भी गया, उनकी चरण-रेखा वहीं पर अंकित हो गई। उन्हीं कदमों पर आज भी अनेक चलने को लालायित है।

वकील मुंशीराम की मानसिक और बौद्धिक चेतना की जागृति उच्च शैल शिखर से आविर्भूत शुभ्र जलस्रोत के समान थी जो कल कल करती चारों दिशाओं में फैल गई। चेतना के उस अजस्र स्रोत से मानव कल्याण की जलधारा फूट पड़ी। धीरे-धीरे वह पतली जलधारा शिवालिक की उच्च पर्वत श्रृंखलाओं से उतर कर हरिद्वार के विस्तीर्ण प्रान्तर में ठहर गई और उसने चारों ओर रम्य वातावरण की सृष्टि की। यहां पर न रुक कर यह उद्दाम प्रवाह धारा राष्ट्रीय क्षितिज पर उभर कर, सभी को एक दृष्टि से देखने तथा सभी का कल्याण करने के लिए अग्रसर हो उठी- "जिस दिन पवित्र सन्यासाश्रम में प्रवेश किया, उसी दिन सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार

के धन को एक आँख से देखने और लोक लज्जा को छोड़कर लोक सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया था।" मायापुरी की वह वाटिका धन्य है, जहाँ से यह सुव्रती जन-जन के उद्धार के लिए राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली की ओर बढ़ चला।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन में अनेक मोड़ आये। वे पौराणिक जगत से निकल कर आर्य जगत् के सिरमौर बने। यहां पर उन्होंने राष्ट्रीय विचारधारा को नई ऊर्जा तथा देश की रक्षा में तत्पर नागरिक देने के लिए अपनी प्राचीन गौरवमयी शिक्षा पद्धति पर गुरुकुल की स्थापना की। अब उनका क्षेत्र बढ़ गया और वे सामाजिक तथा राजनैतिक क्षितिज पर छाते गए। उनके जीवन में कहीं पर भी ठहराव न था। वे तो तीर की भांति आगे बढ़ जाते थे। जब राजनैतिक जीवन की छुद्रताएं सामनें आईं और उन्हें अपना अभीष्ट प्राप्त न होता दिखा तो हिन्दू महासभा, हिन्दू संगठन, आर्यसंगठन, दलितोद्धार, अछूतोद्धार तथा धर्म परावर्तन की दिशा में आगे बढ़ चले।

उनके जीवन में विभिन्न सोपान और परिवर्तनों और उनके द्वारा प्रवर्तित एकता के सूत्रों को समझने के लिए उनके लेखों और ग्रन्थों का अनुशीलन अनिवार्य है। स्वामी जी ने पत्रकारिता की महत्ता को अपने जीवन के प्रारंभिक चरणों में ही पहचान लिया था। वे शब्द की शक्ति से परिचित थे। इसलिए उन्होंने १८ फरवरी १८८६ को जालंधर से "सद्धर्म साप्ताहिक" प्रारंभ किया। इस पत्र की रीति नीति को देखकर लाला सांईदास ने कहा था- "यह पत्र समाज में नया युग लाएगा। यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह युग हितकर होगा या अहितकर।" ये शब्द ठीक वैसे ही, जैसे कि उन्होंने मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के आर्यसमाज लाहौर में प्रविष्ट होने पर, पहले दिन उनके भाषण के बाद कहे थे - "आर्यसमाज में यह नई स्पिरिट आई है, देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" लाला सांईदास की विलक्षण परीक्षण शक्ति की उद्भावना को स्वामी श्रद्धानन्द ने सकारात्मक दिशा में प्रवृत्त होकर गौरव ही प्रदान किया। इस "सद्धर्म प्रचारक" को पढ़कर एक सज्जन ने आक्षेप करने पर कि- "दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो, पर महर्षि ने तो अपना सारा साहित्य हिन्दी में लिखा है, आप सद्धर्म प्रचारक उर्दू में क्यों निकालते हैं? उन्होंने प्रचारक को हिन्दी में निकालने का निश्चय कर लिया और मार्च १९०७ में "सद्धर्म प्रचारक" गुरुकुल कांगड़ी से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा। १९११ में उन्होंने "प्रचारक" को दैनिक कर दिया। इसे उन्होंने दिल्ली से प्रकाशित किया तथा इसमें राजनीति की गतिविधियों को प्रमुखता दी गई। उनके बड़े पुत्र "हरिश्चन्द्र" प्रचारक के संपादक थे। ३० जनवरी

१६१५ को यह पत्र पुनः हरिद्वार से प्रकाशित होने लगा। यह पत्र आर्य समाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक था। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के भावों और विचारों का संपूर्ण प्रतिफलन उसमें होता था। १६०४ में "सत्यवादी" नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया गया। इसके प्रथम संपादक पं. पद्म सिंह शर्मा थे। स्वामी श्रद्धानन्द के संपादन में १६२० में गुरुकुल कांगड़ी से "श्रद्धा" नाम की साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। दक्षिण भारत के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने १ अप्रैल १६२६ से अंग्रेजी साप्ताहिक "दि लिबरेटर" निकाला। स्वामी जी के दौहित्र श्री सत्यकाम विद्यालंकार ने "नवयुग" नामक एक दैनिक का संपादन किया। १६२६ में स्वामी जी की हत्या हो जाने पर वीर सावरकर ने अपने छोटे भाई डॉ० नारायण सावरकर को रत्नगिरि बुलाया और उन्हें दो पत्र निकालने की प्रेरणा दी। इसमें एक पत्र "श्रद्धानन्द" था। यह पत्र स्वामी श्रद्धानन्द जी की पावन स्मृति में प्रारंभ किया गया था। इसके प्रथम अंक में उनका अपना लेख "श्रद्धानन्द जी की हत्या" भी प्रकाशित हुआ था।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षधर थे। वास्तव में वे यह मानते थे कि एक ही भाषा होने से एकता का सूत्रपात किया जा सकता है। छः दिसम्बर १६१३ को भागलपुर में हुए चतुर्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर भाषण करते हुए स्वामी जी ने उस समय कहा था- "बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र का संगठित होना ऐसा ही दुष्कर है जैसा बिना जल के मीन का जीवन। जिस समाज के सभासदों के पास एक दूसरे के हार्दिक भावों को समझने का कोई एक साधन नहीं, उनका संगठन दृढ़ कैसे हो सकता है। भारत वर्ष के नेताओं ने यह तो मान लिया है कि एक राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता, परन्तु इस विषय में अभी तक मतभेद है कि कौन सी राष्ट्रभाषा बन सकती है। मेरी सम्मति यह है कि आर्यभाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती हैं। इस भाषा को हम केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं प्रत्युत सारे देश की राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं।" स्वामी श्रद्धानन्द भाषायी एकता को भी राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख सूत्र मानते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जात पाँत के भेदभाव को दूर करना चाहते थे। उनके विचार से इससे "एकता" के मार्ग में बाधा पड़ती है। उनके गुरुकुल में मेहतरों के बच्चे भी सवर्णों के बच्चों के साथ-साथ रहते, पढ़ते, खेलते और खाते थे। २६ दिसम्बर १६१६ को अमृतसर कांग्रेस के अपने स्वागताध्यक्ष भाषण में उन्होंने अछूतोद्धार को कांग्रेस कार्यक्रम का आवश्यक अंग बनाने का प्रस्ताव रखा था। "पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के पवित्र जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि साढ़े छः करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे भाई-बहन हैं। उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे, उनके नर-नारी हमारी सभाओं में शामिल होंगे और स्वतंत्रता प्राप्ति के युद्ध में हमारे कंधे से कंधा जोड़ेंगे।"

वे एकता स्थापना के सूत्रों के अनतर्गत ही "अछूतोद्धार" को मानते थे। उनका दिल उस समय रो उठा था, जब पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में आयोजित हिन्दू संगठन की सभा में एक अछूत को अपने विचार प्रकट करने से रोक दिया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द ने ३१ मार्च १६१६ की घटनाओं का विवरण इस प्रकार दिया था- "३१ को पचास हजार मातमंदारों के साथ मैं कब्रिस्तान की ओर चला, मुसलमान शहीद का जनाजा हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। शहीद की कब्र पर उसके खून के पैबन्द से बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक दूसरे से जुड़ गए थे। फिर शाम को दो और जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान भूमि में पहुंचा और दाहकर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू मुसलमानों को ईश्वर दत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिक्ख भाई ने कहा- "हम पर क्यों जुल्म करते हो ? सिक्ख भी कौम के साथ हैं।" उन हजारों की भीड़ में उस समय सैंकड़ों की आँखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी और जब मैं श्मशान भूमि से चल दिया, तो प्रिंसिपल सुशील कुमार रुद्र आकर गले मिले और कहा- "मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार नहीं देख सकता, मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।"

स्वामी जी के इन शब्दों को सुनकर कौन होगा, जो उन्हें संकुचित दायरों में बांधने का प्रयत्न करे। वह सारे मानव समाज के थे, पूरा राष्ट्र उनका अपना था। उनकी शहादत सूर्य का वह प्रकाश है जो सब पर समान रूप से पड़ता है और जीवन का संचार करता है।

४ अप्रैल १६१६ की घटना हिन्दू मुस्लिम एकता का एक विशिष्ट उदाहरण है। स्वामी जी महाराज ने दिल्ली की शाही जामा मस्जिद से वेदमंत्र **"त्वं हि नः पिता वसो, त्वं माता शतक्रतो"** के साथ अपना संदेश आरंभ किया था। इसके बाद उन्होंने फतहपुरी मस्जिद में भी जनता को संबोधित किया था। "हिन्दू मुसलमानों को और अधिक संगठित होकर देश की परतंत्रता की बेड़ियां काटनी है। "उनकी मान्यता थी कि हिन्दूओं और मुसलमानों की एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता को प्राप्त किया जा सकता है।

सन् १६२२ में पंजाब में अजनाला के पास "गुरु का बाग" को लेकर सिक्खों ने मोर्चा लगाया हुआ था। उसमें भाग लेने के लिए स्वामी जी अमृतसर पहुंचे और अकालतख्त से अपना सुप्रसिद्ध व्याख्यान दिया। इस व्याख्यान ने हिन्दू-सिक्ख एकता को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

जिस समय अब्दुल रशीद अपनी मूर्खताभरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी में अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की तैयारियाँ हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने स्वामी जी को उसमें आमंत्रित किया। वे स्वयं तो रुग्णावस्था के कारण उसमें सम्मिलित न हो सकते थे, परन्तु उस समय उन्होंने जो तार द्वारा संदेश भिजवाया, वह एकता का यज्ञ है-

"On Hindu-Muslim unity depends future well being of India"
"अर्थात्! भारत का भावी सुख हिन्दू मुस्लिम एकता पर आश्रित है।"

स्वामी जी महाराज एकता पर कितना बल देते थे, यह उनके इन कथनों से सर्वथा स्पष्ट है : "मैं धमकियों से पूर्ण संदेश भेजने वालों को ऐसा पतित नहीं समझता जैसा कि वे स्वयं अपने आपको समझते हैं। जो मुझसे सच्चा प्रेम करते हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखाएं और मुझे अपने माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें।"

निस्संदेह राजनीतिज्ञों और योद्धाओं का किसी जाति के निर्माण करने में बड़ा हाथ होता है। परन्तु उनके नाम सहज में ही भूल जाते हैं, जबकि उन महात्माओं के नाम जो किसी जाति के नवीन जीवन को बनाते हैं, आगामी नस्लों की स्मृति में सदा बने रहते हैं। उन्हीं में स्वामी श्रद्धानन्द जी थे। उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। इसके लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

जो सोचते हैं कि वे किसी एक साम्प्रदायिक भावना से परिपूर्ण थे, वे गलती पर हैं, स्वामी जी महाराज तो इन छुद्र सीमाओं से ऊपर उठ चुके थे। वे कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद जानते थे। उनके विचार उदार थे। उनका हृदय विशाल था। उनका कर्तृत्व सहिष्णु था। उनकी विनम्रता, निर्भीकता, बलिदान का भाव और अटल विश्वास ही उनके जीवन का श्रृंगार थे। वे मनुजता का मान थे। वे शूरता की शान थे। वे ऋषियों की आर्ष आन थे। वे भारत भू का अभिमान थे।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, सत्यनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, ईश्वर विश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भीक, आदर्श आचार्य, छात्र वत्सल, दृढ़ सिद्धान्तवादी, सभी कार्यों में अग्रणी, सर्वस्व समर्पण कर्ता, एकता के सूत्रधार राष्ट्रनायक स्वामी श्रद्धानन्द को हमारी विनत श्रद्धाञ्जलि।

-कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

उन्नति के शिखर पर क्रमिक आरोहण

डॉ० भवानीलाल भारतीय
8/423, रत्नाकर, नन्दनवन, जोधपुर (राज०)

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन अधः पतन के गहरे गर्त से निकलकर सार्थकता के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ जाने की एक गौरवमयी कथा है। अपनी किशोर और युवा अवस्था में चारित्रिक पतनों की विभीषिकाओं उन्हें समय-समय पर त्रस्त और भयभीत तो किया किन्तु उन पर विजय प्राप्त करने की उनकी चेष्टायें भी निरन्तर चलती रहीं और अन्ततः पर्याप्त प्रयास के पश्चात् ही सही, वे अपनी इन क्षुद्र इन्द्रियजन्य दुर्बलताओं को नियन्त्रित कर सके। उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन तब आया जब बरेली में उन्हें ऋषि दयानन्द के तेजः पूत, ब्रह्मचर्य की गरिमा से उद्दीप्त, लोकहित के प्रति पूर्णतया समर्पित, सत्य और धर्म के लिए सर्वथा संकल्पित व्यक्तित्व को जानने का अवसर मिला।

यूरोप के प्रखर चिन्तकों और तार्किक दार्शनिकों के विचारों के रंग में रंग मुंशीराम को प्रथम बार ज्ञात हुआ कि भारत का यह साधु जो सर्वथा निरासक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी समाज और राष्ट्र की कल्याण कामना करता है तथा लोगों के बौद्धिक क्षितिज के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है, कोई काम की बात कह सकता है। अन्यथा दयानन्द की वक्तृता सुनने से पहले तक तो उसे विश्वास ही नहीं था कि भारत का भिक्षोपजीवी सन्यासी वर्ग भी कोई अक्ल की बात करता है।

दयानन्द का यह सम्पर्क ही मुंशीराम के जीवन की पतन को कारा से मुक्त करा सका और उसके पश्चात् उनकी जीवनधारा जिस दिशा की ओर उन्मुख हुई उससे वे निरन्तर श्रेय साधना में ही लगे रहे। श्रद्धानन्द का जीवन श्रद्धा और विश्वास के दो सूत्रों से सतत ओतप्रोत रहा। जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी आस्था रही, उनको स्वयं में लाने तथा अन्यों में प्रचारित करने में वे सदा तत्पर रहे इसी प्रकार जिन विचारों और कार्यक्रम के प्रति उनकी आस्था समाप्त होती गई उनको त्यागने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ। लाहौर में रहते समय वे ब्रह्मसमाज तथा आर्य समाज के प्रति समान रूप से आकर्षण का अनुभव करते थे, किन्तु जब अपनी पुनर्जन्म विषयक जिज्ञासा का समाधान उन्हें सत्यार्थप्रकाश में मिला तो वे दयानन्दीय विचारधारा के प्रति पूर्णतया अनुरक्त और समर्पित हो गये तथा अपने शेष जीवन को आर्य समाज के प्रचार प्रसार में ही लगा दिया।

सार्वजनिक जीवन

श्रद्धानन्द का सार्वजनिक जीवन निरन्तर विवेकशील रहा किन्तु उनका केन्द्र बिन्दु आर्य समाज ही था जो धर्म समाज और राष्ट्र के कल्याण के साथ विराट् मानवहित जैसे लोकोत्तर आदर्श को लक्ष्य बनाकर जनमानस को आन्दोलित और प्रभावित करता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में वे अपने जन्म प्रान्त पंजाब की आर्यसामाजिक गतिविधियों के सूत्राधार बने रहे। जालन्धर के प्रधान पद पर रहकर उन्होंने धर्म प्रचार की मस्ती को अनुभव किया तथा अपने आचार्य देव के स्वप्नों को सार्थक बनाने हेतु अधिकतम त्याग, परिश्रम अध्यवसाय और पुरुषार्थ का जीवन जिया। लाहौर के उनके सामाजिक जीवन ने उन्हें आर्यसमाज के एक दल के गौरवशाली नेता के पद पर प्रतिष्ठित किया, जो उतना ही अधिक चुनौती भरा भी सिद्ध हुआ।

जब मांसाहार के विरोध तथा पाश्चात्य शिक्षा की प्रधानता न देकर गुरुकुलीय शिक्षा के प्रवर्तन जैसे मुद्दों पर उनका विपक्षी दल से टकराव हुआ, तो मुन्शीराम की चारित्रिक दृढ़ता, सिद्धान्त निष्ठा तथा वैदिक धर्म के प्रति उनके अनन्य प्रेम के ही परीक्षा हुई। दलीय संघर्ष की इस अग्नि ने तपाकर मुन्शीराम को कुन्दन बना दिया और अब वे मात्र आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के ही प्रधान नहीं रहें, किन्तु सम्पूर्ण आर्य जगत् के बेताज बादशाह बन गये। उनके समक्ष विरोध पक्ष के साधारण नेता तो बौने ही लगते थे। महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय की ख्याति तथा प्रसिद्धि के तो कुछ कारण भी थे।

लाला मुंशीराम के आर्य समाज में प्रविष्ट होते समय लाहौर आर्य समाज के पितामह तुल्य लाला सांईदास ने कहा था कि आज एक नई शक्ति का आर्य समाज में प्रवेश हो रहा है, पता नहीं, यह आर्य समाज को तारेगी या डुबायेगी। श्रद्धानन्द चरित का पूर्ण अवगाहन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुन्शीराम नाम का जो व्यक्ति उस दिन आर्यसमाज लाहौर का सभासद बना था, उसने ऋषि दयानन्द की इसी दिव्य संस्था के गौरव को चार चांद ही लगाये हैं। आज आर्य समाज के १२३ वर्ष के इतिहास में दयानन्द के पश्चात् श्रद्धानन्द से भिन्न हमें कोई ऐसी हस्ती दिखाई नहीं देती, जिसने धर्म, समाज राष्ट्र तथा अखिल मानव जाति के हितचिंतन में अपने आपको इस प्रकार सर्वथा समर्पित किया हो।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

भारतीय शिक्षा प्रणाली में पुरातन तत्वों को पुनः प्रविष्ट कराना तथा उसे नैतिकता, चरित्र, धर्म, त्याग और बलिदान की सिद्धि में नियोजित करना महात्मा मुन्शीराम का एक अन्य ऐतिहासिक कार्य था। जो लोग श्रद्धानन्द का एक आर्यसमाजी

नेता के रूप में मूल्यांकन नहीं करते, वे भी मानते हैं कि भारत की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का प्रवेश उनके द्वारा ही सम्भव हुआ। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय तो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की प्रतिद्वन्द्विता में स्थापित पाश्चात्य प्रणाली की एक शिक्षण संस्था ही बनकर रह गई, किन्तु गुरुकुल कांगड़ी तो भारत की पुरातन शिक्षा व्यवस्था को ही पुनरुज्जीवित करने का एक सार्थक प्रयास था, जिसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा आर्ष ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता है, किन्तु विगत अनेक शताब्दियों तक उसके अनुरूप कोई संस्था सचमुच भारत में पनप सकी है, यह कहना कठिन है। गुरुकुल की शिक्षा पद्धति को देखकर यदि देश भक्त एण्ड्रूज तथा इंग्लैंड के रैमजे मैकडानल्ड जेसे राजनीतिज्ञों को आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता हुई तो महात्मा गांधी जैसे भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने भी उसकी प्रशंसा करने में कंजूसी नहीं दिखाई यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वही गुरुकुल कांगड़ी अपने संस्थापक के आदर्शों से च्युत होकर पश्चिम की प्रणाली पर संचालित भारत की उन सैंकड़ों यूनिवर्सिटियों में एक बनकर रह गया और उसकी सारी विशिष्टतायें उसके संचालकों की अक्षमता, दृष्टिहीनता तथा गुरुकुलीय आदर्शों के प्रति आस्था के अभाव के कारण एक-एक कर नष्ट होती गई।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पद पर अपने जीवन के लगभग दो दशक व्यतीत करने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द को लगा कि अब उन्हें गुरुकुल की प्राचीरों से बाहर निकलकर देश की स्वाधीनता के यज्ञ में भी अपनी आहुति देनी है। दक्षिण अफ्रीका में कुछ ठोस सेवा करके लौटने वाले जिस कर्मवीर गांधी का उन्होंने गुरुकुल में उस समय स्वागत किया था जबकि देश के अधिकांश लोग उसे भलीभांति जानते भी नहीं थे; और जिसे उन्होंने 'महात्मा' कहकर पुकारा था, सौराष्ट्र का वही "बैरिस्टर मोहनदास गांधी" अब भारत के जन मन की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक बन देश में सर्वत्र देवता की भांति पूजा और आराधना का पात्र बना हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अनुभव किया कि देश के लिए भी कुछ करने का समय आ गया है। १६१७ से १६२२ तक के पाँच वर्ष राष्ट्रदेव की सेवा में उन्होंने सिपाहियों की संगीनों के प्रहार के लिए अपनी छाती खोल दी। जामा मस्जिद की प्रवचन वेदी से परम पिता की पुनीत महिमा का आख्यान करते हुए हिन्दू और मुसलमानों को देश के लिए सर्वस्व निछावर करने की प्रेरणा की। कांग्रेस की उच्चकमान के एक महत्वपूर्ण अंग बन कर इस राष्ट्रीय संस्था की नीतियों का संचालन किया और समकालीन राष्ट्र नेताओं के आदरास्पद बने।

राजनीति में धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के पावन मूल्यों को समाविष्ट

कराने का श्रेय महात्मा गांधी को बेशक मिला, किन्तु इसके लिए इतिहासकार स्वामी श्रद्धानन्द को भी विस्मृत नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन्होंने ही सत्याग्रह को धर्मयुद्ध की संज्ञा दी तथा जिन्हें अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद को स्वीकार करने का अनुरोध करते समय महात्मा गांधी जी ने लिखा था "यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

कांग्रेस को देन

कांग्रेस के कार्यक्रम में स्वदेशी के महत्व, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार तथा अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक मुद्दों को स्थान दिलाने के लिए स्वामी जी का कर्तत्व सदा याद किया जाता रहेगा। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में उनकी कितनी जबरदस्त आस्था थी, यह उनके उस पत्र में देखते हैं, जो उन्होंने २५ सितम्बर १६२० को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी को लिखा था। इसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि "इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है।" राष्ट्र की लड़ाई के सैनिक बनने में यदि उन्हें गुरुकुल या आर्य समाज का काम थोड़े समय के लिए छोड़ना भी पड़ा तो उसका उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि उन्हें देश की स्वतन्त्रता का यह युद्ध सर्वोपरि दीखता था।

किन्तु जब उन्होंने देखा कि आजादी की लड़ाई का यह कर्णधार (महात्मा गांधी) खुद कभी कभी सनक में आकर ऐसे फैसले कर जाता है जिससे सारे देश को परेशानी का सामना करना पड़ता है और देशवासियों की संघर्ष करने की शक्ति और वृत्ति को आघात पहुंचता है, तो उन्होंने गांधी जी के समक्ष भावना और आवेश में लिए उनके इन फैसलों का प्रतिवाद भी किया। गांधी जी ने तो स्वयं अपने कतिपय निर्णयों को हिमालय जैसी भूल माना ही था। गांधी जी की मुस्लिमतोषिणी नीति से भी वे सहमत नहीं थे। यदि महात्मा गांधी हिन्दुओं और मुसलमानों को समान स्तर पर रखकर उनकी किसी आपत्तिजनक बात की आलोचना या टीका करते तो वह समझ में आने वाली बात थी। किन्तु मुसलमानों की साम्प्रदायिक विद्वेशयुक्त बातों को सहन करना एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति के प्रति अकारण उदारता दिखाना स्वामी श्रद्धानन्द को कदापि पसन्द नहीं था।

कांग्रेस छोड़ी

अन्ततः वे कांग्रेस से भी दूर हट गये। उनके विचार में देश में हिन्दू समाज का

बहुमत है। देश के हित भी तभी तक सुरक्षित हैं जब तक हिन्दू यहां रहकर सम्मान और गौरव का जीवन बिताते रहें। किन्तु सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से असंगठित हिन्दुओं को जब तक एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाता, तब तक वे देश की स्वाधीनता, उन्नति और प्रगति के लिए अपना समुचित योगदान करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दुओं को संगठित होने की प्रेरणा दी।

संगठन अपने आप में तो एक निराकार विचार-सा ही है। जातियों को संगठन का लाभ तभी मिलता है जब वे अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर करती हैं तथा भाव,भाषा विचार, संस्कृति और जीवन दर्शन में समरसता रखती हैं। हिन्दू जाति का संगठन तभी संभव था यदि उसके नेता दलित वर्गों की समस्याओं और कठिनाइयों का तत्काल समाधान ढूंढ़ते और शताब्दियों से पीड़ित तथा ठुकराये गए इन लोगों को उनके अधिकार प्रदान करते।

शुद्धि आन्दोलन

इसी प्रकार कारणवश अन्य मतों में चले गए लोगों को अपने धर्म में प्रविष्ट करने के लिए चलाये गये शुद्धि आन्दोलन की सफलता भी संगठन का एक साधन बन सकती थी। अतः अब स्वामी श्रद्धानन्द का समस्त ध्यान, शुद्धि, अछूतोद्धार तथा सामाजिक कुरीतियों के निवारण जैसे कार्यक्रमों पर ही लगा। उनके प्रयासों को तब धक्का लगा, जब उन्होंने देखा कि संकीर्ण बुद्धि वाले सनातनी समाज को न तो अछूतों को उनका प्राप्य देना ही पसन्द है और न वे शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में प्रविष्ट लोगों को ही दिल खोल कर अपनाने के लिए तैयार हैं। यद्यपि पं० मदनमोहन मानवीय जैसे उदार नेताओं के प्रभाव में आकर अधिकांश हिन्दुओं ने अछूतोद्धार तथा शुद्धि के कार्यक्रम को माना तो अवश्य, किन्तु श्री भारती कृष्णतीर्थ तथा अन्य पौराणिक नेताओं ने आर्यसमाज के प्रति अपनी मात्सर्य वृत्ति का ही परिचय दिया। उन्हें आशंका थी कि इन कार्यक्रमों को सफल बना कर आर्यसमाज अपने प्रभाव की वृद्धि कर रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द के लिये यह सर्वथा अनपेक्षित था और अब वे हिन्दू महासभा से भी निराश हो गये।

अन्ततः उन्होंने कवि गुरु की 'एकला चलो' की नीति ही अपनानी पड़ी। अब वे अपने कार्यक्रमों के लिये आर्यसमाज के लोगों पर ही निर्भर हो चले और सभी के सहयोग से उन्होंने शुद्धि और संगठन का शंखनाद किया। इन कार्यक्रमों में महात्मा हंसराज के नेतृत्व में कालेज दल ने भी उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी धर्म और समाज के व्यापक हित में कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे कर्मयोगी श्रद्धानन्द का जीवन जितना शानदार था, उनकी मृत्यु भी उतनी ही गौरवशालिनी थी, जिस पर महात्मा गांधी को भी ईर्ष्या करनी पड़ी।

स्वामी श्रद्धानन्द : एक अनुपम व्यक्तित्व

लेखक : स्व. क्षितीश वेदालंकार

पाश्चात्य सभ्यता ने हमें यह सिखाया है कि यदि आदमी का बाहरी रूप, रंग वेष-विन्यास, बोल-चाल और रहन-सहन देखने में ठीक-ठाक हो, तो वह आदमी सभ्य कहलाने के योग्य है। उसके मानसिक विचार कैसे हैं और उसका आन्तरिक तथा घरेलू जीवन कैसा है, इससे किसी को क्या वास्ता ! इसी से आधुनिक सभ्य समाज में यह परम्परा चल पड़ी है कि किसी व्यक्तिं के "प्राइवेट लाईफ" की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, केवल उसका सामाजिक जीवन ही हमारी चर्चा का विषय हो सकता है। खोजी पत्र-कारिता के आजकल के युग में जब राजनेताओं के निजी जीवन के सम्बन्ध में नित्य नये विस्फोट होते हैं। तब सभ्यता के उक्तं आधुनिक सूत्र की ओट ही सबसे अधिक ली जाती है। परन्तु भारतीय सभ्यता इस .... के पक्ष में नहीं है। उसने तो सज्जनता की कसौटी यही निर्धारित की है। कि जो मन वचन और कर्म में एक जैसा हो, जिसकी कथनी और करनी में कोई अन्तर न हो, जिसका अन्दर और बाहर परस्पर विरोधी न हो, जिसके सामाजिक और घरेलू जीवन में विरोध दिखाई न दे, वही सज्जन है। नीतिकारों ने कहा है-

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

आधुनिक राजनैतिक नेताओं को 'दुरात्मा' कहने की हिम्मत तो नहीं होती, भले ही मन-वचन और कर्म में असामंजस्य को ही वे अपनी राजनीति-निपुणता समझते हैं। कभी-कभी तो वे अपने मन में इस बात पर गर्व करते हुए प्रतीत होते हैं कि हमने जनता को कैसा बेवकूफ बनाया है। परन्तु ऋषि दयानन्द और उनके शिष्यों की लम्बी श्रेणी पाश्चात्य सभ्यता के उक्त उद्घोष को सबसे अधिक अनर्थकारी मानती है। इस दृष्टि से यदि ऋषि दयानन्द अनुपम और अद्वितीय थे, तो अपने आपको ऋषि का शिष्य कहने में गर्व अनुभव करने वाले और उनकी प्रेरणा से ही कुपथ से निकल कर सुपथ पर चलने वाले स्वामी श्रद्धानंद भी अनुपम और अद्वितीय थे। देव दयानन्द ने कितनी पतित आत्माओं का उद्धार किया और उन्हें इतिहास में स्मरणीय बनाया, इसकी गिनती करना कठिन है। स्वामी श्रद्धानंद ने अपनी आत्मकथा में, जो कल्याण मार्ग के पथिक

के नाम से जीवनी साहित्य का अद्‌भुत ग्रन्थ है अपने मद्यपान के त्याग के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए अपने गुरु के आध्यात्मिक प्रभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं -

"पुराने अभ्यास के अनुसार यह सूझी कि शेष बोतल समाप्त करके सदा के लिये उसके प्रलोभन से मुक्त हो जाऊँ। इस विचार से पूरा बड़ा गिलास भरा ही था कि मानसिक दृष्टि के सामने से एक पर्दा उठा और यतिवर दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाए, शरीर में भभूत रमाए और हाथ में मोटा लट्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा लगा मानो महात्मा कह रहे हैं- "क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा ?" मैंने आँखें मलीं, मूर्ति कहीं सामने न थी। परन्तु हृदय काँप गया। गिलास उठाकर जो फेंका तो सामने की दीवार में लगकर चूर-चूर हो गया। फिर बोतल उठाकर जोर से फेंकीं वह भी दीवार से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गई।

योगिराज दयानंद की इसी छवि ने मुंशीराम को अनेक स्थानों पर पतन के मार्ग से बचाया इसीलिए अपने गुरु को श्रद्धा सहित स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा था-

"ऋषिवर, तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे अब (सन् १९२५ में) ४२ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय पटल पर अब तक ज्यों की त्यों अंकित हैं। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौनमरण धर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी ही बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी ही आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि से संसार में प्रचालित कितने पापों को दग्ध कर दिया, परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे किसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन-लाभ करने योग्य बनाया। भगवन्, मैं तुम्हारा ऋणी हूं मुझे अपना सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें।"

स्वामी दयानन्द की कथनी और करनी में कैसी एकरूपता थी, इसके अनेक उदाहरण उनके जीवन से दिये जा सकते हैं। वे अपनी मान्यताओं के कितने पक्के थे और उसके लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार रहते थे, इसके उदाहरण भी उनके जीवन में भरे पड़े हैं। परन्तु जिस अनुपमता की ओर हम पाठकों का ध्यान

खींचना चाहते हैं। वह और हैं।

महात्मा गांधी और स्वामी श्रद्धानन्द में परस्पर कितना स्नेह था इसकी कल्पना संभवतया आज की पीढ़ी को नहीं होगी। महात्मा गांधी को "महात्मा" के पद से सुशोभित करने वाले सबसे पहले महात्मा मुंशीराम ही थे। उसके बाद तो महात्मा गांधी के साथ "महात्मा" शब्द ऐसे चस्पां हो गया जैसे वह गाँधी का पर्यायवाची ही हो। महात्मा गाँधी उनको हमेशा अपने बड़े भाई का सा आदर देते थे। जब गाँधी जी पहली बार दक्षिण अफ्रीका से भारत आये थे तो अपने आश्रमवासी छात्रों के साथ सीधे गुरुकुल कांगड़ी ही पहुंचे थे और वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा मुंशीराम का चरण स्पर्श किया था। उसके बाद कई महीने तक गाँधी जी के फोनिक्स आश्रम के वे विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी में ही रहे और गुरुकुल के वातावरण से तथा महात्मा मुंशीराम जी के स्नेह से वे इतने ओतप्रोत हो गये थे कि गांधी जब भी स्वामी जी को पत्र लिखते तो वे हमेशा यही कहते कि मेरे आश्रम में कब आयेंगे। गांधी जी का यह प्रेम ही स्वामी श्रद्धानन्द को राजनीति में खींच लाया था और वे सत्याग्रह आन्दोलन के प्रमुख नेता और महान् स्वतन्त्रता सेनानी बने थे।

सन् १९१९ में जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का निश्चय हुआ तब यह समस्या खड़ी हुई कि स्वागताध्यक्ष कौन बने। जालियांवाला बाग में जैसा भीषण हत्याकाण्ड हो चुका था उसके कारण जनता बहुत क्षुब्ध और त्रस्त थी और ऐसे वातावरण में अन्य कोई भी नेता स्वागताध्यक्ष बनने को तैयार नहीं था। अन्ततः स्वामी जी से अनुरोध किया गया तो उन्होंने स्वीकृति देने से पूर्व गांधी जी की स्वीकृति प्राप्त करना उचित समझा और उन्हें पत्र लिखा गांधी जी ने उसका उत्तर इस प्रकार दिया-

"यदि आप स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिए आपको स्वागत समिति का सभापति होना ही चाहिए। यही सलाह मैं आपको दे सकता हूं।"

कहना नहीं होगा कि कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार हिन्दी में भाषण देने वाला और अछूतोद्धार की चर्चा करने वाला यदि कोई राजनेता हुआ तो वह केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। उसके बाद जब गाँधी जी ने खिलाफत आन्दोलन के नाम से सत्याग्रह

चलाया तो स्वामी श्रद्धानन्द उसमें सहर्ष शामिल हो गये और खिलाफत कमेटी के अध्यक्ष भी बने। उसी दौरान जामा मस्जिद के मेम्बर से वेदोपदेश देने का सौभाग्य भी आज तक यदि किसी गैर मुसलमान को मिला तो वे केवल स्वामी श्रद्धानंद थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे इतने प्रबल पक्षधर थे कि 'हम' शब्द की व्याख्या में वे 'ह' से हिन्दू और 'म' से मुसलमान अर्थ करते थे।

पाठकों को आश्चर्य होगा जब टर्की में कमालपाशा विजयी हुआ यहां मस्जिदों में दीवाली मनाई गई। स्वामी श्रद्धानंद ने भी अपने निवास स्थान पर खुशी के मारे दीपकों की पंक्ति प्रज्ज्वलित की। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनसे पूछा- स्वामी जी आपने यह क्या कर रखा है ? स्वामी जी ने गम्भीरता से जबाब दिया 'हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिए। कमालपाशा की विजय न्याय की विजय है। अतः यह हमारी भी विजय है। परन्तु उसी स्वामी श्रद्धानंद ने जब मौलाना मौहम्मद अली और शौकत अली के बयान पढ़े और उनको यह लगा कि खिलाफत के नाम से ये लोग भारत में पुनः इस्लामिक सल्तनत का स्वप्न देखते हैं तो उन्होंने खिलाफत कमेटी से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगाई।

उसके बाद जब स्वामी जी ने अछूतोद्धार का प्रोग्राम कांग्रेस के प्रोग्राम में प्रयत्नपूर्वक शामिल करवाया परन्तु कांग्रेसी नेताओं की इन प्रोग्रामों के प्रति उपेक्षा देखी, तो उन्हें कांग्रेस की कार्यसमिति से इस्तीफा देने में भी देर नहीं लगी। तदन्तर वे हिन्दू महासभा में शामिल हुए। परन्तु जब अछूतोद्धार के प्रति हिन्दू नेताओं को भी उन्होंने ईमानदार नहीं पाया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू महासभा भी छोड़ दी।

कथनी और करनी की ऐसी एक रूपता किसी अन्य राजनेता में तो दिखाई नहीं देती। अनुपम गुरु का यह अनुपम शिष्य भावी पीढ़ी के लिए सही और सच्चा मार्ग दिखा गया है।

-२५ दिसम्बर १९८८ के साप्ताहिक
'आर्यजगत्' से साभार।

दो संतों की प्रगाढ़ता : पत्रों के झरोखों से

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार
पंतनगर-263145

फरवरी १६११, गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम को दिल्ली के एक महाविद्यालय में "ब्रह्मचर्य का महत्व" विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। उसी महाविद्यालय में श्री सी.एफ.एण्डूज भी पढ़ाते थे। व्याख्यान की समाप्ति पर श्री एण्डूज महात्मा जी से मिलने आये। प्रथम भेंट में ही वे दोनों एक दूसरे के विचारों से प्रभावित हुए। इसके बाद श्री एण्डूज इंग्लैण्ड चले गये। जब वे पुनः भारत आये तो उन्होंने २१ जनवरी १६१३ को महतमा मुंशीराम को एक पत्र लिख कर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की :

"मेरे प्यारे महात्मा जी, जब से हम दिल्ली में मिले हैं तब से मैं आपसे मिलने के लिए अत्यन्त लालायित हूँ। हालांकि मैं इस समय अस्वस्थ हूं, पर मुझे विश्वास है कि आपके साथ मैं पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहूंगा।"

इस पत्र को पाते ही महात्मा मुंशीराम ने श्री एण्डूज को गुरुकुल आने का औपचारिक निमंत्रण भेज दिया। तदुपरांत श्री एण्डूज सेंट स्टीफेन्सन कॉलेज दिल्ली के प्रिंसिपल श्री सुशीलकुमार रुद्र के सुपुत्र सुधीर रुद्र के साथ गुरुकुल पधारे और कुछ दिन वहां निवास किया। इस निवास-काल में श्री एण्डूज महात्मा मुंशीराम और गुरुकुल से इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे महात्मा जी को अपने संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट और उनके दृष्टिकोण को असाधारणरूप से कहीं अधिक व्यापक मानने लगे थे। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर को लिखे एक पत्र में उन्होंने एतद्विषयक अपने उद्‌गारों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया : "मैं कुछ सप्ताह से हरिद्वार गुरुकुल में रह रहा हूँ। महात्मा मुंशीराम अब तक मेरे संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज के सामान्य आदर्श की अपेक्षा असाधारण रूप से कहीं अधिक व्यापक है। यही कारण है कि उनके साथ रहने की मेरी उत्कण्ठा अधिक प्रबल हो गयी है। दूसरी एक सामान्य सी बात यह हुई है कि मैं अब विशुद्ध शाकाहारी हो गया हूँ और इससे मुझे बहुत अधिक लाभ भी हुआ है। शाकाहारी न होने के कारण स्वास्थ्य

खराब रहने की जो समस्या उग्र रूप में आ खड़ी होती थी, वह संभवतः अब समाप्त हो गयी है। मैंने यह सब महात्मा जी, आप और श्री बिल्ली पीयर्सन के अलावा अन्य किसी को नहीं बतायी है, हालांकि श्री रुद्र इस बारे में थोड़ा-बहुत जानते हैं।"

यही नहीं, महात्मा मुंशीराम जी के प्रेमपूर्ण व्यवहार और गुरुकुल के वातावरण ने श्री एण्ड्रूज के मानस-पटल पर ऐसा घर कर लिया कि गुरुकुल से लौटने के बाद भी वे उसे याद करते रहे। यह तथ्य उनके द्वारा २० अप्रैल १६१३ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखे गये पत्र की निम्न पंक्तियों से स्वतः पुष्ट होता है :

"मैं आज सारे दिन आपको याद करता रहा और अब शाम के समय आपको विशेष रूप से स्मरण कर रहा हूँ। प्रिय महात्मा जी, मैं बता नहीं सकता कि मैं आपको कितना अधिक प्यार करता हूँ, परन्तु आप इसे बिना कहे ही समझ सकते हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह महान् प्रेम कहां से उत्पन्न हुआ है, वस्तुतः यह परमात्मा की देन है और इसके लिए मैं उसका धन्यवाद करता हूँ, क्योंकि यह उसके हाथों से अब तक प्राप्त उपहारों में सर्वश्रेष्ठ है।"

प्रिंसिपल रुद्र के पुत्र सुधीर पर भी गुरुकुल के रहन-सहन आदि का अमिट प्रभाव पड़ा था। श्री एण्ड्रूज के शब्दों में :

"सुधीर ने मुझे बताया है कि गुरुकुल - निवास के दौरान वहां के वातावरण ने उसके मन पर जो अमिट छाप छोड़ी हैं, वैसी उसके संपूर्ण जीवन में किसी अन्य चीज से नहीं पड़ी। उसके हृदय में मातृभूमि भारत के लिए प्रेम की जो चिनगारियां अस्फुट रूप से निकल रही थीं, गुरुकुल जाकर वे ज्वाला रूप में प्रकट हो गईं। गुरुकुल के आदर्शों तथा आपके प्रति श्रद्धा का जो ज्वार उसके हृदय में उमड़ पड़ा है, वह वर्णनातीत है। अभी तक उसके मन की यह अवस्था है, यद्यपि परीक्षाएं निकट हैं, तथापि उसका हृदय उन्हीं दिव्य अनुभूतियों में ऐसा ओतप्रोत है कि वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी बात में अभीरुचि नहीं दिखाता। सुधीर को आपके शिष्यों से जो स्नेह और पवित्र संवेदन मिला, वह उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। (श्री एण्ड्रूज द्वारा महात्मा जी को २१ अप्रैल १६१३ को लिखे पत्र का अंश)

इस पत्र को पाकर महात्मा मुंशीराम जी गदगद हो गये और उन्होंने २५ अप्रैल,

१६१३ के पत्र द्वारा अपने जीवन-निर्माण का सार श्री एण्ड्रूज के समक्ष प्रकट करने में तनिक भी संकोच नहीं किया :

"आपका २१ अप्रैल का पत्र पाकर मुझे वह प्रसन्नता हुई जो पिछले २८ वर्ष के कार्यकाल में कदाचित् ही हुई होगी। शायद आपको नहीं मालूम कि मैं होश संभालने के बाद ६ वर्ष तक नास्तिक था। तब ईश्वरीय कृपा से एक दिन अकस्मात् महर्षि दयानन्द के दिव्य दर्शन ने मेरी अंधकारपूर्ण अंतरात्मा को नया प्रकाश दिया। मैंने अपने संशय ऋषि दयानन्द के सामने प्रकट किए। जब मैंने कहा- "मेरा मन अब भी संशयालु है", तो ऋषि ने उत्तर दिया- "तुमने प्रश्न पूछे थे, मैंने प्रश्न का उत्तर दे दिया। मैंने यह नहीं कहा था कि तुम्हारे हृदय में विश्वास पैदा कर दूंगा। विश्वास की ज्योति जगाना तो प्रभु का ही कार्य है। उसकी ही कृपा होगी तो वह तुम्हारे हृदय में श्रद्धा की ज्योति जगायेगा। और सचमुच अब वह समय आ गया कि मेरे मन में प्रभु के प्रति जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती। संघर्ष मेरे जीवन का अंग बन चुका है। आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में मेरा जीवन पूर्णतया संघर्षमय हो गया है। दिव्य जगन्माता को ही मालूम है कि पिछले २८ वर्षों में मुझे कितने कठोर प्रहारों से जूझना पड़ा। आपके पवित्र हृदय से निकले शब्दों ने भी मेरे २८ साल के संतप्त हृदय पर मरहम का काम किया है। मेरी आत्मा को आपके निश्छल स्नेह से असीम सात्विक आनन्द प्राप्त हुआ है। यह भी जगन्माता का आशीर्वाद है। आज मैं फिर यह मानता हूँ, कि मेरी २६ वर्ष की तपस्या सार्थक हुई है।"

महात्मा जी के इस पत्र के उत्तर में श्री एण्ड्रूज ने "मेरे प्रियतम मित्र" संबोधन के साथ अपने स्नेहोद्‌गारों की अभिव्यक्ति कुछ यों की :

"आशा है आप मुझे इस संबोधन का अधिकार देंगे। इन शब्दों को संबोधित करते हुए मेरा हृदय अपार आनन्द प्राप्त करता हैं सुधीर को आपकी निकटता से जो नवीन दृष्टि मिली है, उसे पाकर वह बहुत प्रसन्न है और स्वयं को सौभाग्यशाली मानता है। कितनी ही बार उसने मेरे सामने उस अनुभव को दोहराया है। उसने यह भी कहा- "गुरुकुल-यात्रा की वह स्मृति, मेरे लिए इतनी आल्हादकारी बन गई है कि यदि मैं परीक्षा में हजार बार भी फेल हो जाऊँ, तो भी उस स्मृति का सुखद प्रकाश धुंधला नहीं होगा।"

मेरा विश्वास है कि आपके हृदय में प्रभु की ज्योति का जागरण उन नन्हें बालकों के प्रेम से ही हुआ है जिन्हें आप पिता बनकर पाल रहे हैं। मैंने देखा है कि अपने आश्रम के नन्हें बच्चों के साथ आपका कितना प्रगाढ़ प्रेम है। मुझे भी अपने हृदय में कई बार बड़े रूखेपन का आभास होता है। किन्तु आपके निकट आते ही मुझे हृदय में नयी ताजगी और नए प्राण-संचार की अनुभूति होती है। जीवन में आनन्द का परम वही है, जब साक्षात् प्रेममूर्ति प्रभु का संकेत पाकर आप मुझे मुग्ध हृदय से अपनी स्नेह भुजाओं में आबद्ध करते हैं, और पूरे विश्वास के साथ मुझे अपने आनन्द का भागी बनाते हैं। उस समय भी आपकी समीपता से प्रभु-दर्शन का आनन्द मिलता है। जबसे आपके पास रहकर वापस आया हूँ, तब से कई बार कई प्रकार की परेशानियों ने दु:खित किया है। पर वह दु:ख मन में ही दब जाता है। मेरा अंतर्मन आज भी आपकी पवित्र स्नेहस्मृति से खिल उठता है। इस दिव्य अनुभूति के लिय धन्यवाद का कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं है । यही कह सकता हूँ कि मैं जब भी, जैसे भी हो, सभंव हो , गुरुकुल की योग्य सेवा करने में अपने को धन्य मानूंगा इस पत्र के शब्दों में मैंने जो भाव व्यक्त किए हैं, वे केवल हृदय के क्षणिक उद्‌गार नहीं है, बल्कि गहरे और स्थायी विचार हैं। समय उसका साक्षी होगा। ....उन दिनों की सुखद स्मृति आज भी मेरे हृदय को नयी ताजगी से भर देती है।"

महात्मा मुंशीराम और श्री एण्डूज का यह पत्राचार यहीं समाप्त नहीं हो गया, वरन् इसके बाद भी निरन्तर चलता रहा। स्नेह घनिष्ठता में बदलता गया। इसी का परिणाम था कि एण्डूज दुनियाँ के चाहे किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को वे बराबर याद करते रहे। उनके पत्र पूर्ण अपनत्व भरे होते थे। महात्मा जी पत्र की शुरुआत "माई डियर चार्ली" से और समाप्ति "युअर डियर राम" से करते थे। जबकि श्री एण्डूज "माई डियर राम" से शुरू करके "युअर डियर चार्ली" से समाप्त करते थे।

महात्मा मुंशीराम के पत्र को पाकर श्री एण्डूज कितने अधिक आनन्दविभोर हो जाते थे, यह उनके निम्न पत्रों से ज्ञात होता है।

"ओह! आपका वह पत्र मेरे लिए कितना अधिक बहुमूल्य था। इसका शब्द-शब्द आपके प्रेम से अनुप्राणित था। आपके प्रेमपूर्ण भाव इससे झलक रहे थे और मेरे भावों के साथ मिल गये थे। मैंने बार-बार प्रार्थना की कि मैं स्वयं को आपके महान् प्रेम के योग्य बना सकूँ।"

श्री एण्डूज कुछ सप्ताह के लिए शांति निकेतन गये थे। वहाँ भी दीनबंधु अपने "राम" के प्रेम को नहीं भूले : "मैं आपको अपना बड़ा भाई मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि आप भी मुझे उसी तरह प्यार करते हैं जिस तरह एक बड़ा भाई छोटे भाई को प्यार करता है। आपका यह प्यार वस्तुतः माँ के प्रेम की तरह अनमोल है।.....उस रात जब मुझे बुखार था। आपकी सेवा सुश्रूषा से मुझे ऐसा महसूस हो रहा था कि मानो मेरे कष्ट-निवारण और सान्त्वना देने के लिए मेरी अपनी माँ मेरे बिस्तर के पास खड़ी हुई हो।"

सन १६१३-१४ मे दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में वहाँ रहने वाले भारतीयों को अधिकार दिलवाने के लिए एक सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा गया था। यह सत्याग्रह गोरे दक्षिण अफ्रीका-निवासियों द्वारा बरती जाने वाली नृशंस भेदभाव की नीति के विरोध में चलाया गया था। भारत मे जब इस आन्दोलन का समाचार पहुँचा तो श्री गोपालकृष्ण गोखले ने धन सग्रंह के लिए एक अपील निकाली। इस अपील ने जहाँ भारतीय जनता के दिलों को झकझोर दिया, वहीं भारत में रहने वाले अनेक विदेशी भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उनमें से एक दीनबंधु एण्डूज भी थे, जो इस अपील को पढ़कर घोर व्यथा अनुभव करने लगे थे। उन्होंने २८ अक्टूबर १६१३ को अपने मित्र मुंशीराम को एक पत्र लिख कर अपनी मनोव्यथा का चित्रण किया था:

"मैं आपको बता नहीं सकता कि कैसे दिन-रात वह अपराध-बोध मेरी अंतरात्मा को प्रताड़ित कर रहा है। पिछली रात मैं उसके भयावह परिणामों पर सोच-सोच कर जागता रहा। मै ट्रांसवाल-कारांवास की भयावहता का बहादुरी से सामना कर रही उन हिन्दू वीरांगनाओं के बारे में सोचता रहा......पहले-पहल मेरी समस्या नव-अर्जित शंाति आक्रोश के तूफान मे लुप्त होती प्रतीत हुई.....और तदुपरान्त इस सबके आश्चर्य परिणाम मेरे सामने आये। अंशतः ये श्री गोखले के उच्च प्रेरणादायी विचारों के माध्यम से मुझ तक पहुँचे। जिन्होंने उन भुक्तभोगियों के शौर्य की ऐसी सुसंतुलित तस्वीर सामने रखी कि मैंने सच्चे भारत की,,आर्य भारत की, उपनिषदों और गीता के भारत की उस चेतना के सामने आभार के साथ अपना सिर झुका लिया.....वह चेतना जो आज भी जीवित है और कमजोर, तिरस्कृत गिरमिटिया कुलियों तक में सांस ले रही है। केवल धार्मिक और परम्परागत ईसाइयत की परतें एक-एक करके गिरती जा रही

हैं और मैं ईसा से पहले से कहीं अधिक निकट होता जा रहा हूँ, और यह भावना मेरे अन्दर आदर्श हिन्दू भारत के दिनों दिन होने के फलस्वरुप आई है जिसे मैं जब कभी इसके वास्तविक रूप में प्रदर्शित हुआ देखता हूँ......और वही चेतना है जिसने रवीन्द्रनाथ और उनके सरल और उदार आदर्श जीवन को मेरे लिए इतना मूल्यवान् बना दिया....और जिसने मुझे भारत के लोगों को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर दिया.... मैं हृदय से इच्छा करता हूँ अपने वर्तमान देशवासियों के समस्त रुढ़ियों से मुक्त होने की, ताकि मैं ऐसे एक सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के मार्ग का अनुसरण कर सकूँ जहाँ केवल सत्य ही अग्रणी रहे।"

२ जनवरी १६१४ को श्री एण्डूज डरबन पहुंचे। बंदरगाह पर उनके स्वागत के लिए श्री हेनरी पोलक, महात्मा गांधी आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। श्री एण्डूज ने गांधी जी को पहले कभी नहीं देखा था, अतः उन्होंने श्री पोलक से पूछा कि क्या गांधी जी भी आये हैं। इस पर श्री पोलक ने उनका गांधी जी से परिचय कराया। महात्मा गांधी से हुई इस भेंट का वृत्तांत श्री एण्डूज ने श्री मुंशीराम को इस प्रकार लिखाः

"उन्होंने (श्री पोलक ने) तपस्वियों की तरह की एक ऐसी आकृति की ओर इशारा करके बतलाया कि "गांधी जी ये हैं" जिसका सिर मुंडा हुआ था, जो ऐसे मोटे कपड़े का सफेद धोती-कुर्ता पहने थे, जैसा कि कोई गिरमिटिया श्रमिक पहनता है और जो ऐसी दिखलाई पड़ रही थी मानो शोक में हो। मैं तत्काल सहज भाव से झुक गया और उनके (गांधी जी के) चरण-स्पर्श कर लिये। इस पर उन्होंने मन्द स्वर में कहा कि "कृपया ऐसा न करें, यह मेरे लिए अपमानजनक है।"

इस प्रथम भेंट के साथ ही श्री एण्डूज और गांधी जी में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और मैत्री स्थापित हो गई यही नहीं, महात्मा गांधी जी ने तो उन्हें अपना परामर्शदाता भी मान लिया और अफ्रीकी सत्याग्रह के बारे में भावी रणनीति का निर्धारण उन्हीं की सलाह से करने लगे। यद्यपि श्री एण्डूज अफ्रीका में गांधी जी के निकट संपर्क में आते जा रहे थे। और उनके मन में अपने इस नये मित्र के प्रति श्रद्धा और प्रेम भी उत्पन्न होता जा रहा था, पर वह अभी उस सीमा तक नहीं पहुंच पाया था जितना कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, सुशील व रुद्र और महात्मा मुंशीराम के प्रति था। यही कारण था कि वे सशरीर अफ्रीका में रहते हुए भी चिन्तन एवं कल्पनालोक में वे हर

पल अपने से हजारों मील बैठे अपने मित्रों टैगोर तथा "राम" के साथ ही विचरण किया करते थे। उन्हीं के शब्दों में "मुझे इतनी अधिक घर की याद इससे पूर्व कभी भी नहीं आई....मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ३.३० बजे से ६ बजे तक का समय आपके साथ व्यतीत करता हूँ।" यह है उस पत्र का एक अंश जिसे उन्होंने १५ जनवरी १६१५ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखा था। इसी पत्र में आगे श्री एण्डूज ने गांधी जी द्वारा अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह के उद्देश्य तथा गांधी जी के प्रति अपने मनोभावों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया था :

श्री गांधी वस्तुतः (अपने लिए) कोई विशेष सुविधा प्राप्त करने के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे इस अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा जाना चाहिए, न कि गुलामों के रूप में। मैं बता नहीं सकता कि मैं उनके प्रति कितनी श्रद्धा रखता हूं। अभी तक मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उनसे उतना ही प्रेम करता हूं जितना की आपसे, गुरुदेव से और सुशील (रुद्र) से करता हूं, हालांकि यह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु मैं उसका अब तक ज्ञात व्यक्तियों में सर्वाधिक वीर पुरुष के रूप में समादर करता हूं।"

श्री एण्डूज डरबन में ही थे। वे गांधी जी और अफ्रीकी सरकार के मध्य समझौता करवाने का प्रयास कर रहे थे। उनकी मां इंग्लैण्ड में बीमार थीं और उन्होंने उनसे वायदा किया था कि वे हर हालत में अप्रैल से पूर्व ही उनके पास पहुंच जाएंगे। अतः वे चाहते थे कि जल्दी से जल्दी समझौता हो जाये ताकि वे अपने वायदे के अनुसार मां के पास पहुंच सकें। समझौता हो गया और वे प्रिटोरिया से समझौते का सुखद समाचार लेकर डरबन पहुंचे। वे स्टेशन पर भारतीय जनसमुदाय से घिरे खड़े थे कि उन्हें किसी व्यक्ति ने उनके भाई का एक पत्र दिया जिसमें यह सूचित किया गया था कि मृत्युशय्या पर पड़ी उनकी मां जीवन की अन्तिम घड़ियां गिन रही हैं। इस आकस्मिक सूचना से श्री एण्डूज हतप्रभ से हो गये और उन्हें सारा स्टेशन घूमता-सा नजर आने लगा। पर वे अपनी पूज्य मां के दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि इंग्लैण्ड के लिए प्रस्थान करने से पूर्व ही उन्हें उनके स्वर्गवास का समाचार मिल चुका था, जिससे उन्होंने २६ जनवरी १६१४ को "केबल" द्वारा भारत में अपने अभिन्न मित्र मुंशीराम जी को भी अवगत करा दिया था।

श्री एण्डूज को भारत से इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे भारत-भूमि को अपनी मातृभूमि मानते थे और उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन भारत और भारतवासियों के लिए समर्पित करने का निश्चय कर लिया था। इपनी इस भावना से महात्मा मुंशीराम को अवगत कराते हुए उन्होंने अपने ७ अगस्त १६१३ के पत्र में लिखा :

"........ आपके माध्यम से मुझे इस अपनी प्यारी मातृ-भूमि के प्रति अत्यधिक गहन प्यार उत्पन्न हो सके. क्योकि अब वास्तव में यह मेरी है और जीवन-मृत्यु पर्यन्त इसके प्रति समर्पित हूँ। मैं कभी-कभी सोचता हूँ परम दयालु परमात्मा ने मेरे अन्दर कभी भी विवाह करने की इच्छा उत्पन्न नही की और मैं अपना संपूर्ण प्यार इस प्यारी मातृभूमि को दे सकता हूँ।"

यही नहीं, वे अपनी पूज्या मां की मृत्यु के बाद उनकी आत्मा का वास भी भारत मे ही माननें लगे थे :

" मै पूज्या मां के चरणों में अपना दुःख प्रकट कर सका तथा उस ईश्वर-प्रदत्त शांति को जान सका जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रियतम, उस समय आप अपने अकथनीय बहुमूल्य प्यार के साथ मेरे पास आये और मुझे सान्त्वना दी। तभी से शांति बनी हुई है........मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है।.....मुझे इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीया माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूंगा। मैं पिता जी से मिलने के लिए इंग्लैण्ड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊँगा। परन्तु उसकी आत्मा तो वहां न होगी। वह भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" (महात्मा मुंशीराम को संबोधित पत्र दिनांक २८ जनवरी १६१४ का एक अंश)

श्री एण्डूज इंग्लैण्ड जाकर बर्मिंघम में अपने पिता से मिले, जो पत्नी-वियोग के दुःख से अभिभूत होने के कारण अत्यधिक वृद्ध लगने लगे थे। तत्पश्चात् इस विश्वास के साथ उन्होंने भारत वापस लौटने का निश्चय कर लिया कि वे मातृभूमि (भारत) में अपनी स्वर्गीया माँ का अनवरत सान्निध्य प्राप्त कर सकेंगे। अप्रैल १६१४ के मध्य में उन्होंने भारत-भूमि में पदार्पण कर लिया। भारत आने पर वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये, जिस कारण चिकित्सा हेतु उन्हें मई के प्रथम सप्ताह में शिमला जाना पड़ा। वहां

पहुँचने पर उन्होंने पाया कि वायसराय हार्डिंग और निजी सचिव सर जेम्स बॉले के अलावा शेष इसाई-समाज में उन्हें उपेक्षा की नजर से देखा जा रहा है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें जाति-बहिष्कृत भी कर दिया गया। इस सबका कारण उनका इसाई-पादरी बने न रहना था। इससे श्री एण्ड्रूज को कुछ खिन्नता तो हुई, पर किसी प्रकार का पछतावा नहीं हुआ है। अपने १८ मई १६१४ के महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र के माध्यम से इस स्थिति से अवगत कराते हुए लिखा थाः "उन्होंने मुझे जाति से बहिष्कृत कर दिया है और अस्पृश्य व्यक्ति बना दिया है, परन्तु मैं इस "सम्मान" के लिए उनका अत्यधिक आभारी हूँ।"

इसके बाद जब श्री एण्ड्रूज पंजाब विश्वविद्यालय की फैलोशिप से त्यागपत्र देने तथा विश्वविद्यालय के परीक्षकत्व का अंतिम कार्य सम्पन्न करने लाहौर गये तो वहां भी इसाई-धर्मावलम्बियों ने उनके साथ यही व्यवहार किया। उन्हीं के शब्दों में, "मैंने लाहौर के कैथीड्रल में एक धर्मोपदेश दिया, परन्तु इससे स्थिति और बिगड़ गई। उन्होंने कहा कि 'यह कोई घोषणा नहीं है, हम इससे भी अधिक कुछ चाहते हैं'। मुझे निश्चय है कि इस बारे में कुछ भी नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि मौन रहना चाहिए।......यदि मेरे कार्य इसाईयों जैसे नहीं हैं तो केवल शब्दों से स्वयं को इसाई कह कर मैं कभी भी इसाई नहीं बन सकता।"

सितम्बर १६१४ में श्री एण्ड्रूज पुनः गम्भीर रुप से अस्वस्थ हो गये और उन्हें शिमला के वाकर हॉस्पिटल मे प्रवेश लेने का परामर्श दिया गया। अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में वे शिमला पहुँच गये। इस बार भी उनके पुराने मित्र लार्ड हार्डिंग तथा बिशप लिफ्रॉय आदि तो उनसे मिलने आये, पर अन्य लोगों ने--- यहां तक कि कुछ घनिष्ठ मित्रों ने भी--- उनके प्रति पूर्ण विमुखता प्रदर्शित की। इसके साथ ही उन्हें इंग्लैण्ड से अपने पिता का भी दुःख एवं नाराजगी से भरा पत्र मिला, जो एण्ड्रूज के पादरी न रहने से अत्यन्त क्षुब्ध थे। अपनी उस समय की मनःस्थिति का उल्लेख करते हुए श्री एण्ड्रूज ने ६ अक्टूबर के आसपास महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"यहां आने से मुझे मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से बिशप और दूसरे लोग मुझसे बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा इसाई

बन गया हूँ। यही मैं बनना चाहता था। इंग्लैण्ड से भी इस संबंध मे बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिता जी का पत्र सबसे अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिए दुःखी हूँ। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझे आपके अत्यन्त प्रेम का पूरा भरोसा है।"

इसी बीच श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी अस्वस्थ हैं। उन्होंने तत्काल अपने मित्र को भावुकता एवं विषाद से भरा एक पत्र (८ नवम्बर १६१४) लिखकर अपनी सहानुभूति व्यक्त कीः

"यह सब बहुत ही आश्चर्यजनक है, परन्तु कभी-कभी...... मुझे यह सोच कर सान्त्वना मिलती है कि ये वही कष्ट हैं जो जननी (मातृभूमि) को अपनी सन्तान के उद्धार और अपनी पावन भूमि के उत्थान के लिए उठाने पड़ते हैं। यह वही है सभी दुःखों को झेलने वाली मां जो विभिन्न देशों में कष्ट उठाती है और हमें भी---जो कि उसकी सन्तान हैं--- इसी रुप में उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। इस समय मेरी मेज पर श्री मोहनदास गांधी, श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और आपके पत्र रखे हुए हैं, और वे सभी कष्टों से भरे हुए हैं (इस समय सभी बीमार थे)। इस सबका क्या मतलब है ? इसका मतलब यह होना चाहिए कि यह सब आवश्यक है तथा दिव्य मां नें स्वयं हमें यह पवित्र अवसर प्रदान किया है।"

एक बार जब श्री एण्डूज को पता चला कि मुंशीराम जी को कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तो उन्होनें पत्र लिख कर उनसे यह आग्रह किया कि, "क्योंकि हम दोनों (चार्ली और मुंशीराम जी) भाई हैं इसलिए हमें एक दूसरे के कष्ट में भागीदार बनना चाहिए। मेरे प्रियतम भाई, इस सतत विपत्ति के समय मेरी सहानुभूति आपके साथ है, जिसका कि आपको सामना करना पड़ रहा है--- यह जननी (मातृभूमि) का भार है जिसे वह स्वंय वंहन कर रही है और जिसमें भागीदार बनने के लिए उसने आपसे कहा है।...... यह मृत्यु से अमरता तक, अंधकार से प्रकाश तक हर समय आपके साथ हैं।"

इस प्रकार श्री एण्डूज और महात्मा मुंशीराम व्यक्तिगत संपर्क एवं पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनते रहे, परस्पर अमित स्नेह बरसाते रहे, विचारों का आदान - प्रदान करते रहे तथा उनमें प्रगाढ़ता निरन्तर बढ़ती रही।

सद्धर्म प्रचारक में शिक्षा-विषयक चिन्तन

मुम्बई मे आर्यसमाज की स्थापना के तीन वर्ष पश्चात् ही आर्यसमाज शाहजहाँपुर से आर्य विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला एक द्विभाषी (हिन्दी-उर्दू) साप्ताहिक **'आर्यदर्पण'** प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द ने आर्यदर्पण की प्रशंसा मे एक विज्ञप्ति भी प्रकाशित करवाई थी। जुलाई १८७८ में फर्रूखाबाद मे आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही यहाँ से हिन्दी मासिक पत्र "भारत सुदशा प्रवर्तक" भी निकलना आंरभ हुआ। जुलाई १९१२ में यह साप्ताहिक होने के पश्चात् अप्रैल १९१५ के बाद यह गौरवशाली पत्र बन्द हो गया। यह पत्र राष्ट्रभाषा हिन्दी का कट्टर समर्थक था। इसकी प्रतियाँ आर्यसमाज लन्दन को भी भेजी जाती थीं। इसके पश्चात् आर्यसमाज से संबंधित संस्थाओं द्वारा अनेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुई हैं और हो रही हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने जो पत्र, पत्रिकायें संपादित या प्रकाशित की हैं, उनमें- सद्धर्म प्रचारक, श्रद्धा, सत्यवादी, दि गुरुकुल मैगजीन, वैदिक मैगजीन एंड गुरुकुल समाचार तथा अर्जुन प्रमुख हैं। "अर्जुन" का प्रकाशन ३० अप्रैल १९२३ को दिल्ली से दैनिक पत्र के रुप में हुआ था। इसके संपादक पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। इसका प्रतिज्ञा वाक्य था -"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"। "सद्धर्म प्रचारक" का प्रकाशन १९ फरवरी १८८९ में एक उर्दू साप्ताहिक के रूप में जालन्धर से हुआ। इसका संपादन मुंशीराम एवं लाला देवराज संयुक्त रूप से कर रहे थे। एक मार्च १९०७ में यह जालन्धर से ही हिन्दी साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। अप्रैल १९०८ से यह पत्र गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित होने लगा। इसका संपादन पं० ब्रहमानन्द, पं० हरिश्चन्द्र एवं पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने भी किया। यह पत्र १९२१-२२ तक निकलने के पश्चात् बन्द हो गया।

सद्धर्मप्रचारक के शिक्षा विषयक लेखों का हम-गुरुकुल शिक्षा, पाश्चात्य शिक्षा एवं स्त्री शिक्षा के अन्तर्गत चिन्तन कर सकते हैं। साथ ही इसमें शिक्षा क्यों और कैसे दी जाए? इस विषय पर भी चिन्तन किया गया है।

गुरुकुलीय शिक्षा का अर्थ है-आर्ष[1] ग्रन्थों की शिक्षा। सामान्यतया इसके अन्तर्गत

१- ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा स ऋषि। मन्त्रार्थद्रष्टा वा। ऋषिभिः प्रणीताः ग्रन्थाः आर्षग्रन्थाः।

वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद, कल्पसूत्र, वेदांग, भारतीय दर्शन, स्मृति ग्रन्थ आते हैं। इन आर्ष ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों को छात्रों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था। प्रारंभ में छात्रों को संस्कृत भाषा एंव पाणिनीय अष्टाध्यायी पर आधारित संस्कृत व्याकरण का समुचित अध्ययन कराया जाता था जिससे वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों का यथार्थ अभिप्राय समझने और साहित्य का अनुशीलन करने में कोई कठिनाई न रहे। स्वामी जी ने संस्कृत व्याकरण को संस्कृत साहित्य की कुंजी माना है-

"अष्टाध्यायी संस्कृत लिटरेचर की कुंजी मानी जाती है उसके कंठ होने के पश्चात् तमाम आर्ष ग्रन्थों की छानबीन एक साधारण कार्य रह जाता है।"

(सद्धर्मप्रचारक १२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०८)

वैदिक काल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन प्रभूत मात्रा में होता था। इसीलिए उस समय सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक और सभी तरह से समाज समृद्ध था। मध्यकाल में वैदिक साहित्य का पठन-पाठन लगभग पूर्णरुपेण बन्द हो गया। वैदिक आदर्श एवं साहित्य की पुनः स्थापना करने का आह्वान करते हुए स्वामी जी लिखते हैं-

"वैदिक आदर्शों को पुनरपि जीवित करने का समय आ गया है और उसके लिए काम करने वालों की परमात्मा स्वयं सहायता करते हैं।"

(सद्धर्म प्रचारक २२ जुलाई १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी जी ने आर्ष ग्रन्थों के साथ पाश्चात्य शिक्षा का भी समर्थन किया है। पाश्चात्य शिक्षा से हम उन विषयों का ग्रहण करते हैं जो विषय यूरोप आदि पश्चिमी देशों से आये हैं, इनमें -अंग्रेजी, विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषय प्रमुख हैं। स्वामी दयानन्द ने इन विषयों को पश्चिमी देशों की देन नहीं माना है। अपितु उनका मानना है कि ये सभी विषय हमारे यहां पहले से विद्यमान हैं। वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थ आध्यात्मिक ज्ञान के अथाह सागर होने के साथ-साथ भौतिक ज्ञान, विज्ञान के भी मूल श्रोत हैं। अर्थवेद शिल्प-विद्या का भण्डार है। पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इतिहास का विशद् वर्णन मिलता है। विज्ञान, भूगोल, मनोविज्ञान आदि के मूल बीज वेदों मे विद्यमान हैं। लेकिन अधिकांश विद्वान् इन विषयों को पाश्चात्य देशों की देन मानते हैं। अतः इनको पाश्चात्य विषय स्वीकार करके चर्चा करेंगें। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी में परम्परागत आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन की

समुचित व्यवस्था की थी। स्वामी दयानन्द ने देवनागरी अक्षरों के अभ्यास के साथ बालकों के अन्य भाषाओं के अक्षरों का अभ्यास कराने पर भी बल दिया है -

"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का लड़की हों तो तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भषाओं के अक्षरों का भी।"

(सत्यार्थप्रकाश-द्वितीय समुल्लास-स्वामी दयानन्द)

स्वामी श्रद्वानन्द ने अंग्रेजी की महत्ता को स्वीकार करते हुए अंग्रेजी को भी गुरुकुल के पाठ्यक्रम में समुचित स्थान दिया था।

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए लिखा है- 'जो पहले समय में आर्य लोगों ने अश्व विद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या उत्पन्न की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। जिन पुरुषों को विमानादि सवारियों की सिद्धि की इच्छा होवे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें। दयानन्द सरस्वती ने अपने शिष्यों को विज्ञान के अध्यापन हेतु जर्मनी के एक शिक्षक डा० जी० वाइज से पत्र व्यवहार किया था। किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका। स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है-

"पदार्थ विज्ञान की प्राप्ति पर ऋषि दयानन्द ने बड़ा बल दिया है क्योंकि उसी की प्राप्ति को वह उन्नति की पहली सीढ़ी समझते थे।"

(सद्धर्म प्रचारक-१२ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०५)

विज्ञान को उन्नति की पहली सीढ़ी मानकर स्वामी श्रद्वानन्द विज्ञान की शिक्षा को और अधिक समय देने के पक्ष में थे-

"यद्यपि इस समय साइंस का तीसरा दर्जा है तथापि हम सब वह दिन शीघ्र लाना चाहते हैं जब सांइस को संस्कृत के नीचे दूसरा दर्जा मिल सके।"

(सद्धर्मप्रचारक ०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ-०४)

स्वामी श्रद्वानन्द ने इतिहास, भूगोल आदि विषयों के अध्यापन की भी व्यवस्था की थी किन्तु वे संशोधित इतिहास ही पढ़ाने के पक्षधर थे। उनका विचार था कि हमारे इतिहास में विदेशियों और अन्य धर्मावलम्बियों ने अनेक प्रकार की मिलावट करके उसे विकृत कर दिया है। वे इतिहास और भूगोल में गहरा संबन्ध मानते हैं -

"यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो इतिहास का आरंभ ही भूगोल विद्या से होता है।"

(सद्धर्म प्रचारक -०५ अगस्त १६०८ पृष्ठ -०३)

पाश्चात्य विषयों को ऋषिप्रणाली के अनुरूप मानकर स्वामी श्रद्धानन्द ने उनके अध्ययन-अध्यापन पर समुचित ध्यान दिया था।

वैदिक काल में स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं। कई महिलाएं मन्त्रद्रष्टा ऋषि रही हैं। वेदों में स्त्री को शिक्षिका,न्यायकारी, यज्ञों में पति का साथ देने वाली, क्षत्राणी, उपदेशिका, वीरप्रसवा, ब्रहम-क्षत्र की जननी, विद्यालंकृता, पतिंवरा, अन्नपूर्णा, सद्गृहिणी आदि अनेक नाम दिए गये हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों की अति उत्तम स्थिति थी। मध्यकाल में स्त्रियाँ अशिक्षित होकर दयनीय स्थिति को प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी में महर्षि दयानन्द ने स्त्रियों को बच्चों का सबसे बड़ा गुरु मानते हुए उनकी शिक्षा पर बल दिया। दयानन्द ने तीनों शिक्षकों में माता को सबसे बड़ा शिक्षक माना है। जब भारत में स्त्रियाँ शिक्षित थीं उस समय देश विश्व का गुरु था। किन्तु मध्यकाल में स्त्रियों की अशिक्षा से देश का अधःपतन हुआ। जब तक स्त्रियाँ शिक्षित नहीं हो जातीं तब तक इस देश की उन्नति होना अत्यन्त कठिन है-

"अब केवल इनकी ही अधोगति से इतना गिर गया है कि इसका पुनः उच्च शिखर पर पहुँचना बहुत कठिन हो गया है। जब तक भारत ललनायें पुनः पठन-पाठन की ओर ध्यान नहीं देखेंगी, तब तक भारत का उद्धार होना असंभव है।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-११)

सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव माँ का ही पड़ता है। अतः उसका सुशिक्षित होना परमावश्यक है। महर्षि दयानन्द ने पाँच वर्ष की अवस्था होने पर बच्चों को प्रयत्न एवं उच्चारण स्थान सहित वर्ण ज्ञान करांने का विधान माँ के लिए किया है। उनका मानना था कि जितना उपकार स्त्रियों की शिक्षा से हो सकता है उतना पुरुष की शिक्षा से नही। माँ का सन्तान पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है- "यदि माता सुशीला तथा पढ़ी-लिखी हो तो बालक पर सुशीलता तथा परिश्रम के साथ विद्या ग्रहण करने का अच्छा प्रभाव और माता मूर्ख वा ऐहलौकिक वा पारलौकिक सद्व्यवहारों में सर्वथा अनभिज्ञ व अशिक्षित होवे तो बुरा प्रभाव पड़ेगा।"

(सद्धर्म प्रचारक २७ अक्टूबर १६०६ पृष्ठ-१०)

स्वामी दयानन्द के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द ने भी बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था पृथक्-पृथक् करने का विधान किया है। उन्होने कहा है कि जिस

प्रकार आप आपने पुत्रों की शिक्षा की तरफ ध्यान देते हैं, उसी तरह कन्याओं की शिक्षा पर भी ध्यान दें। केवल पुरुषों के ही शिक्षित होने से कोई समाज, राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में स्त्रियों का योगदान पुरुषों से किसी हालत में कम नहीं आँका जाना चाहिए। बच्चों को संस्कार, प्रारंभिक शिक्षा एवं सद्व्यवहार ज्ञान माँ से प्राप्त होते हैं। इसलिये यदि बच्चों की शिक्षा के प्रति रुचि जगाना चाहते हैं, उनमें प्रेम और सौहार्द देखना चाहते हैं, तो पहले स्त्रियों को शिक्षित करने का कार्य करो, उनमें राष्ट्रप्रेम एवं सौहार्द की भावना भरो। स्त्रियों के शिक्षित होने से उनकी होने वाली सन्तान को उनके गुण विरासत में प्राप्त हो जायेंगे। इसलिये महिलाओं की शिक्षा परमावश्यक है। आर्यसमाज के प्रयासों के फलस्वरूप ही आज महिलाओं में अधिकाधिक शिक्षा दिखाई पड़ती है।

शिक्षा क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर देते हुए स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं- "शिक्षा से रहित राष्ट्र उन्नति कर सके यह अश्रुतपूर्व तथा असंभव बात है। उन्नति करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्र का बहुत बड़ा अंश शिक्षित होवे। बिना शिक्षा के देश के बड़े भारी भाग की सामाजिक तथा आर्थिक दशा का सुधारना नहीं बन सकता।

(सद्धर्म प्रचारक २७ सितं० १६११ पृष्ठ-०५)

शिक्षा का उद्देश्य अत्यन्त विस्तृत है। समानता, विकास, सौहार्द, राष्ट्रीय उन्नति, ज्ञान-विज्ञान का अर्जन, चारित्रिक उत्थान, धार्मिक जीवन, समाज सेवा की भावना आदि गुणों को देने वाली शिक्षा ही है। शिक्षा वह रत्न है जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य को आत्मबोध और स्वकर्त्तव्य बोध होता है। जिसके प्रभाव से वह समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में सहायता करने को तत्पर होता है। समाज या राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के लिए सभी व्यक्तियों का शिक्षित होना आवश्यक है। स्वामी श्रद्धानन्द अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित करने पर बल देते हैं -

"सबको शिक्षित करने के लिए आवश्यक है कि अनिच्छुकों को जबर्दस्ती शिक्षित किया जाये।"

(सद्धर्मप्रचारक ०१ अक्टू० १६११ पृष्ठ-०६)

स्वामी श्रद्धानन्द नें पुस्तकीय शिक्षा के साथ आत्मिक उन्नति के लिए प्रयास करने पर भी बल दिया है। आत्मिक उन्नति के लिए उन्होंने धार्मिक शिक्षा को आवश्यक माना है।

रमेशचन्द्र, प्रवक्ता-हिन्दी
राजकीय इण्टरमीडिएट कालेज,
चाकीसैंण, पौड़ी-गढ़वाल (उ०प्र०)

स्वामी श्रद्धानन्द : हिन्दी साहित्यकार के रूप में

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उन्होंने आर्यसमाज, राष्ट्र तथा शिक्षण के क्षेत्र में देश की महनीय सेवा की। उनके व्यक्तित्व में कर्मठता तथा बौद्धिकता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। स्वामी जी कर्मक्षेत्र के निर्भीक योद्धा होने के साथ ही एक सफल लेखक तथा साहित्यकार भी थे। उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

स्वामीजी के लेखकीय जीवन का आरम्भ एक पत्रकार के रूप में हुआ। उन्होंने १८८६ ई० में 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला। पर कुछ मित्रों के सुझाव पर कुछ वर्ष बाद इसे हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। पुस्तक रूप में प्रकाशित उनकी प्रथम रचना 'वर्णाश्रम व्यवस्था' है जो १८६१ ई० में प्रकाशित हुई।

हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। 'आर्यपथिक पं० लेखराम' का जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया। 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'गोपाल कृष्ण गोखले' नामक सुन्दर संस्मरण भी लिखे। इस तरह स्वामीजी ने 'आत्मकथा', 'जीवनी' तथा 'संस्मरण' जैसी गद्य की नवीन विधाओं पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा स्वामी जी ने उस समय लिखी थी जब हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस आत्मकथा का हिन्दी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन संवत् १६८१ में ज्ञानमंडल, वाराणसी से हुआ। इसमें स्वामी जी ने अपने जीवन के ३५ वर्षों के क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। स्वामी जी का प्रारम्भिक जीवन बड़ा उतार-चढ़ाव भरा रहा। कई बार वे पतन के गर्त में भी गिरे। एक सच्चे आत्मकथा लेखक की तरह स्वामी जी ने अपने जीवन के इन कालिमा भरे पक्षों का बड़ा बेबाक चित्रण किया। वास्तव में यह आत्मकथा उनके श्रेय मार्ग की ओर कदम बढ़ाने की अद्भुत, रोमांचक और शिक्षाप्रद कहानी है। इसीलिए उन्होंने

इसका नाम 'कल्याण मार्ग का पथिक' रखा। स्वामी जी की यह आत्मकथा पथ से भटके लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। स्वामी जी की यह आत्मकथा नाना प्रकार के जीवनानुभवों से परिपूर्ण है।

इसमें अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण भरे पड़े हैं। आर्य समाज के उन दिनों की गतिविधियों को जानने के लिए यह आत्मकथा एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

स्वामी जी की इस आत्मकथा में उनका व्यक्तित्व ही पाठक के आकर्षण का केन्द्र बन गया है। आत्मोद्‌घाटन के साथ-साथ उनका आत्मनिरीक्षण, आत्मविवेचन और आत्मविश्लेषण भी चलता रहा है। पर अपने भोगे हुए जीवन का चित्रण करने में स्वामी जी बराबर सचेत रहे हैं। इससे पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। 'कल्याण मार्ग का पथिक' स्वामी श्रद्धानन्द जी की आत्मकथा है। इसमें हम उन्हें पतन के मार्ग से क्रमशः ऊँचे उठते देखते हैं। और ग्रंथ के अंत में तो वे हमें साधना के उच्च शिखर पर खड़े दिखाई देते हैं। आत्मकथा को सजीव बनाने के लिए स्वामीजी ने सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों का चित्रण किया है। इस परिवेश के ताने-बाने के बीच उनका चरित्र आत्मकथा में उभरता जाता है और पाठक के आकर्षण का केन्द्र बनता जाता है। आत्मकथा की भाषा तद्‌युगीन खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। लेखक की सरल, विवरणात्मक शैली ने आत्मकथा को रोचक बना दिया है। इस आत्मकथा का उद्देश्य पाठक को पतन के मार्ग से बचाना है। इसका उल्लेख स्वामी जी ने स्वयं आत्मकथा में कर दिया है- "आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।" (कल्याण मार्ग का पथिक, पृ० ४)

स्वामी जी ने अमर हुतात्मा पं० लेखराम का जीवन-चरित्र 'आर्य पथिक पं० लेखराम' नाम से लिखा। तब स्वामी श्रद्धानन्द 'मुंशीराम जिज्ञासु' के नाम से जाने जाते थे। पं० लेखराम के अनेक जीवन-चरित्र लिखे गए, पर उनका प्रथम सर्वांगीण मौलिक जीवन-चरित्र स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम जिज्ञासु) ने ही लिखा। इसका प्रथम संस्करण १६१४ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुआ। पं० लेखराम बहुत थोड़े समय ही जीवित रहे। उन्होंने अपना पूरा जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में लगा दिया। स्वामी जी तथा पं० लेखराम जी में उत्कट मैत्री और सौहार्द भाव था।

दोनों ने अनेक स्थानों की प्रचार यात्राएँ साथ-साथ कीं। दोनों ने एक दूसरे के व्यक्तित्व चरित्र, स्वभाव तथा विचारों को परख लिया था। दोनों की गणना आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं में होती थी।

जीवनी साहित्य के रूप में 'आर्य पथिक पं० लेखराम' एक सफल रचना है। इसमें पं० लेखराम के सम्पूर्ण जीवन पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। जीवनी लेखक ने उनके जीवन की प्रत्येक घटना को उजागर करने का भरसक प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक सम्पूर्ण जीवन चरित्र क्रमबद्ध रूप से लिखा गया है। एक सफल जीवनी लेखक की तरह स्वामी जी ने पं० लेखराम का जीवन चरित्र प्रस्तुत करते हुए निष्पक्षता तथा ईमानदारी का परिचय दिया है। जहाँ तक इस जीवनी की भाषा का सवाल है, जीवनी लेखक ने पुस्तक की प्रस्तावना में ही लिख दिया है- "आगे के पृष्ठों में भाषा के लालित्य तथा विचारों के पाण्डित्य को खोजना एक निष्फल परिश्रम होगा। पर इस रचना में उनकी भाषा का लालित्य दिखाई ही दे जाता है। दृष्टान्तों और लोकोक्तियों के प्रयोग ने इस रचना को और भी रोचक बना दिया है। कुल मिलाकर 'आर्य पथिक पं० लेखराम' हिन्दी की उच्चकोटि की जीवनी रचना है।

'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक संस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द के कारावास की कहानी है। इसका प्रथम संस्करण १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ। अमृतसर में 'गुरु का बाग' नामक गुरुद्वारे के समीप की भूमि को लेकर अंग्रेजों तथा सिक्खों में परस्पर विवाद चल रहा था। अकालियों ने उस पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सत्याग्रह का मार्ग अपनाया और समस्त देशवासियों को उसमें सम्मिलित होने का आह्वान किया। इस अहिंसक सत्याग्रह के समर्थन के लिए स्वामी जी अपने साथियों के साथ अमृतसर गये। वहां उन्होंने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित किया और सत्याग्रह में भाग लेने वालों को अपना आशीर्वाद दिया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर मुकदमा चलाकर कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ दिन उन्हें अमृतसर जेल में रखा गया, तत्पश्चात् उन्हें मियाँवाली (अब पाकिस्तान में) जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। यद्यपि उन्हें एक वर्ष चार मास की सजा सुनाई गयी थी, पर २६ दिसम्बर १९२२ को उन्हें अचानक मियाँवली जेल से मुक्त कर दिया गया। अपने इसी जेल जीवन के अनुभव को स्वामी जी ने 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नाम से लेखनी बद्ध किया है।

इस संस्मरण के नायक वे स्वयं हैं। सम्पूर्ण संस्मरण में उनका व्यक्तित्व साफ-साफ झलकता है। वे लिखते हैं- "प्रातः काल दो बजे नियम से उठता था। तीक्ष्ण वायु युक्त सर्दी में भी यह नियम शिथिल नहीं हुआ। लघुशंका कर और हाथ-मुँह पोंछकर ध्यान में बैठ जाता।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-४, पृ०-१४१)

इस रचना में देशकाल का भी सफल चित्रण किया गया है। इसकी भाषा सरल किन्तु सरस है। अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक है। स्वामी जी का यह संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

स्वामी जी ने अपना दूसरा महत्वपूर्ण संस्मरण गोपाल कृष्ण गोखले पर लिखा। गोखले से स्वामी जी की प्रथम भेंट दिसम्बर १९०० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में हुई। इसके बाद तो दोनों में मैत्रीभाव कायम हो गया। गोखले से अपने सम्बन्धों का जिक्र करते हुए स्वामी जी लिखते हैं- "परिस्थितियां ही कुछ ऐसी रहीं कि मैं दिसम्बर १९०० ई० में श्री गोखले की कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। इसके कुछ अपरिहार्य कारण भी थे, किन्तु उस समय हम दोनों में जो मैत्री भाव बना वह निरन्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया जबकि मातृभूमि की सेवा के समान कर्तव्य पालन में हम एक हो गये।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग-६, पृ० १७२)

गोखले जी और स्वामी जी के बीच पत्राचार चलता रहा। इस संस्मरण में स्वामी जी ने पाँच पत्र गोखले जी के तथा चार पत्र अपने ज्यों के त्यों रखे हैं। वस्तुतः इन पत्रों के माध्यम से ही स्वामी जी ने गोखले का स्मरण किया है। पत्रों की भाषा बड़ी सजीव है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी इन रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि तो की ही है, साथ ही हिन्दी जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान भी बना लिया है।

डा० सन्तराम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - २४९४०४

पूज्य स्वामी श्री श्रद्धानन्द से सम्बन्धित मेरी बाल्यावस्था की धुंधली स्मृतियाँ

(इन्द्रदेव खोसला एडवोकेट)

गुरुदेव के पूर्वज और मेरे पूर्वज गाँव तलवन (तहसील-फिल्लौर, जनपद-जालन्धर) के निवासी थे और उस समय वह गाँव अपनी चरम सीमा पर था- क्षत्री परिवारों का गढ़ था। स्वामी जी के पूर्वज विज़ क्षत्री कहाते थे और मेरे खोसला। दोनों कुटुम्बों के पृथक्-पृथक् मुहल्ले थे सबकी बड़ी-बड़ी हवेलियाँ थी - मेरे परदादा और स्वामी जी महाराज के दादा समकालीन-समान आयु के थे। इकट्ठे खेले, इकट्ठे पढ़े और फिर युवक होकर एक ही रियासत (कपूरथला) में नौकर हो गए। स्वामी जी के दादा जी का नाम था गुलाबराय और मेरे परदादा जी का नाम था श्रीगनपतराय। श्री गुलाबराय जी ड्योढी (रानियों के रहने का स्थान) के प्रबन्धक थे और मेरे परदादा जी खजाने में कार्य करते थे। दोनों परिवारों में बहुत प्रेम था।

जिस समय पूज्य स्वामी जी जालन्धर में वकालत करते थे उन्हीं दिनों मेरे पूज्य पिताजी को साईंदास हाईस्कूल में मैट्रिक करने के लिए भेजा गया था। स्वामी जी महाराज को मेरे पूज्य पितामह ने पिताजी का स्थानीय संरक्षक नियुक्त कर दिया था। उन दिनों पारिवारिक सम्बन्धों के कारण कुछ ऐसी ही प्रथा थी। इसलिए पिताजी को स्वामी जी महाराज के पास उनके आदेशानुसार मास में एक-दो बार जाना होता था। पिताजी पढ़ाई में मेधावी छात्र थे इसलिए स्वामी जी के प्रेम के पात्र बन गए। स्वामी जी उन्हें बड़े प्रेम से सुन्दर नाम से पुकारते थे और उस नाम से अन्त तक पुकारते रहे (पुरा नाम सुन्दरलाल था) उन दिनों पिताजी पर स्वामी जी का बहुत प्रभाव पड़ा और स्वामी जी की आज्ञानुसार आर्य समाज अड्डा होशियारपुर में जाने लगे और धीरे-धीरे पुराने काल के आर्यों की भांति लग्नशील आर्य समाज के सेवक हो गये। वैसे तो हमारे पूर्वज खालसा पन्थ के अनुयायी थे, विशेषकर जब से मेरी पूज्य दादी जी श्रीमती ईश्वरकौर घर में आई। वह किसी एक गुरु की वंशज की थी। सब रीति-रिवाज खालसा पन्थ के होते थे, परन्तु स्वामी जी के प्रभाव से और पिताजी के कारण सारा परिवार आर्य समाज (वैदिक-धर्मी) का अनुयायी हो गया। हमारा परिवार पूज्य स्वामी जी का बहुत आभारी है, क्योंकि वे ही हमारे विचारों को बदलने के मूल स्रोत हैं। मुझ पर तो स्वामी जी महाराज की और भी अनुकम्पा है। क्योंकि मेरा नामकरण संस्कार उन्होंने कराया था वे मेरे God Father हैं। मेरा जन्म हिसार में १६११ में हुआ थां। वहाँ पर आर्य समाज के उत्सव पर स्वामी जी आये थे।

एक बार स्वामी जी महाराज हमारे निवास स्थान पर आये थे, उस समय मैं घर के बाहर खेल रहा था। दादी जी ने पूछा कौन आये हैं तो मैंने बचपन की मूढ़ पंजाबी जुबान में उत्तर

दिया "बाबा रोड़ा मोढ़ा आये हैं" इस पर मेरी माताजी ने ताड़ना की, चपत भी लगाए, तो उस दया के सागर देवता ने मुझे प्यार किया, गोद में बैठने का सुअवसर भी प्रदान किया। मेरे पिताजी रेलवे विभाग में इंजीनियर थे और जोधपुर में नियुक्त थे उस समय स्वामी जी को आर्य समाज के उत्सव पर बुलाया गया था और पिताजी ने मेरे छोटे भाई नरेन्द्र देव का मुण्डन संस्कार (चूड़ाकर्म) भी करवाया था। स्वामी जी महाराज हमारे ही बंगले में जो जोधपुर के एक Sub Station राईकाबाग में था, ठहरे थे। जो आर्य समाज से बहुत दूर था, इस कारण पिताजी ने उन्हें ले जाने, लाने के लिए राजकीय बग्घी का प्रबन्ध कर रखा था। एक दिन बग्घी वाला ठीक समय पर आ गया। परन्तु पिताजी तैयार नहीं हुए थे स्वामी जी अन्दर आंगन में आये।... माता जी से पूछा सुन्दर कहाँ है ? तो माता जी ने कहा सन्ध्या कर रहे हैं, तुरन्त स्वामी जी पिताजी के छोटे से कार्यालय में गए एक कागज लिया और उस पर यह लिखकर "सुन्दर" Action is the only prayer that is ever heard, बग्घी पर सवार होकर स्वामी जी समाज चले गए और पिताजी जो समाज के अधिकारी भी थे उन्हें वहीं छोड़ गए।

यदि उदंडता न समझी जाय तो प्रोफेसर इन्द्रजी के विचार मेरे अपने शब्दों में उनसे मिलते जुलते लिख रहा हूँ। "पिताजी बहुत भावुक थे उनके मस्तिष्क में जो विचार आता तुरन्त पूरा करने में लग जाते, मैं (इन्द्र) सब काम सोच विचार करके करने वाला था और जब पिताजी को कहता कि मुझे इस विषय पर सोच लेने दो तो स्वामी जी कहते नहीं मेरा आदेश है इस कारण हमें वह कार्य करना ही पड़ता था"।

इस संदर्भ में ठीक शब्दों के प्रयोग के लिये श्री इन्द्र जी द्वारा लिखा आर्य समाज का इतिहास देखें। स्वामी जी महाराज और हमारे परिवार की घनिष्ठता का एक कारण यह भी था कि मेरे पूज्य फूफा स्वर्गीय डा० चिरञ्जीव भारद्वाज M.B.B.S. F.R.C.S. लाहौर के प्रसिद्ध व कुशल चिकित्सक थे और आर्य समाज के वरिष्ठ नेताओं में से थे। सत्यार्थ प्रकाश का सबसे पहली बार उन्होंने ही अंग्रेजी में अनुवाद किया था- फूफा जी स्वामी जी की गुरुकुल प्रणाली के समर्थक थे और उनके साथ मिल कर इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया था। स्वामी जी के right hand कहाते थे। उन्होंने भी स्वामी जी की भान्ति गुरुकुल के प्रारम्भिक काल में अपने दोनों सुपुत्रों श्री सत्यव्रत और सत्यकाम को प्रवेश करवाया था।

नोट I :- जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं मेरी आखों के सामने गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी का भव्य स्वरूप, विशाल ललाट और वह तेजस्वी चमकते नैन बार-बार घूम रहे हैं और मैं उनको अपने श्रद्धा के सुमन भेंट कर रहा हूं।

नोट II :- ऊपर कह आया हूँ कि यह मेरे बाल्यावस्था के धुंधले से विचार हैं इस कारण त्रुटियां भी हो सकती हैं।

इन्द्रदेव खोसला
२२५, आर्य वानप्रस्थ आश्रम,
ज्वालापुर - हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में.....कुछ पद्य-प्रसून

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.

यह धन्य-धन्य भारत-माता, यह पुण्य-भूमि, यह देव-धरा।
प्रभु की इस अनुपम रचना को, शतबार सखे, वन्दन मेरा।।

इसके वन-उपवन सरितायें, गुण-गान सदा करती इसका।
हिमगिरि के ऊँचे शुभ्र-शिखर, यश-गान सदा करते इसका।।

सागर लहरा कर चरणों का, निशिवासर वन्दन करते हैं।
चन्दा-सूरज निज आभा से, इसका अभिनन्दन करते हैं।।

ऋतुओं की छटा सुहानी यहाँ, सबका मन भी मोह लेती है।
यह शस्य श्यामला धरती माँ, जन-जन का मंगल करती है।

यह ऋषियों की है दिव्य-धरा, ज्ञानी-ध्यानी जन्में यहाँ पर।
यह तपस्वियों की भू-माता, सिंहों से खेले थे यहाँ पर।।

इसकी गोदी में पल कर के, बलवान बने, विद्वान बने।
महापुरुष अनेकों जन्में यहां, जो भारत-भू की शान बने।।

ऐसी इस भारत-भूमि में, जब 'फिरंगियों' का शासन था।
सन् ५७ का गदर मचा, भारत का कण-कण घायल था।।

पंजाब प्रान्त के एक घर में, नन्हें बालक ने जन्म लिया।
'श्रद्धानन्द स्वामी' बन कर के, भारत का ऊँचा नाम किया।।

उस वीर अमर बलिदानी की, गाथा लिखने की ठानी है।
जीवन के रूप अनेकों हैं, अद्भुत् एवं लासानी है।।

कभी बने 'राष्ट्र' के नायक तो, कभी 'जिज्ञासु' बन जाते हैं।
'महात्मा' की पदवी ग्रहण करी 'श्रद्धानन्द' भी बन जाते हैं।।

'गुरुकुल' के संस्थापक बन कर, 'कुलपिता' कभी कहलाते हैं।
'तप-त्याग-मूर्ति' श्रद्धानन्द, 'शहीदों' में नाम लिखाते हैं।।

हिन्दी-भाषा के पोषक बन, दिल्ली में धूम् मचाते हैं।
कभी 'कांग्रेस' के नेताबन, एक नयी भावना लाते हैं।।

अमृतसर के अधिवेशन में 'स्वागत-सिरमौर' बने स्वामी।
'घर-घर' में प्रतिनिधि ठहराये, जन-जन के प्यारे थे स्वामी।।

कभी 'संगीनों' के आगे आ, 'बेताज' बादशाह कहलाये।
'जामा मस्जिद' से जब बोले, 'आला-फकीर' थे कहलाये।।

आर्यों की जीवन-नैय्या के नाविक स्वामी जी बनतें हैं।
'ऋषि-दयानन्द' के सैनिक बन, नहीं कभी कष्ट से डरते हैं।।

'शुद्धि-प्रचार' किया ऐसा 'मलकाने-मुस्लिम शुद्ध किये।
उद्धार दलितों का करने, जन-जन के मन तैयार किये।।

वे 'सत्' के धारण करने से 'श्रद्धानन्द स्वामी' कहलाये।
निज 'आत्म-कथा' लिख दी ऐसी, गुण अवगुण सारे बतलाये।।

वहु आयामी जीवन वाले, वे श्रद्धानन्द अलबेले थे।
सबके प्राणों के प्राण अरे, वें 'राष्ट्र भक्त अलबेले थे।।

'स्वातन्त्रय-समर' के योद्धा थे, वे वीर अमर बलिदानी थे।
'भारत माता' के वरद् पुत्र, वें जीवन में लासानीं थे।।

ऐसे अद्‌भूत् जीवन वाले, मानव बिरले ही होते हैं।
अपना जीवन देकर जग को, वे जीना यहाँ सिखाते हैं।।

'नानकचन्द्' के कुल में जन्मे, फागुन का दिन अलबेला था।
सम्बत्, १६१३ कृष्ण-पक्ष, खुशियों का घर में मेला था।।

'वृहस्पति' नाम था बचपन का, पर उल्टे कर्म किया करते।
गन्दी संगत में पड़कर के, जीवन बरबाद किया करते।।

नियमित शिक्षा मिल सकी नहीं, व्यवधान पठन में बहुत पड़े।
पर 'क्वीन्स कॉलेज' काशी जी में, आगे की शिक्षा आप पढ़ें।।

वहां पर भी बुरी आदतों ने, नहीं उनका पीछा छोड़ा था।
अपने चरित्र् की ओर अभी, उनका ध्यान कुछ थोड़ा था।।

वे कोट पैंट नकटाई लगा, फिर इतर-फुलैल लगाते थे।
रण्डी-भड़ुवों की महफिल में, जीवन का लुत्फ उठाते थे।।

युवक थे मुंशीराम सुनो, वे मांस-मद्य भी खाते थे।
थे पिता शहर के कोतवाल, मस्ती वे खूब उड़ाते थे।।

सन् अठारह सौ सतहत्तर में, फिर विवाह रचाया जाता है।
उपन्यासों में जो पढ़ते थे, नहीं पत्नी में वह मिलता है।।

वह सती-साध्वी सरलचित्त, धार्मिक महिला पर्दे वाली।
थी जमींदार की बेटी पर, एक स्नेहपूर्ण हृदय वाली।।

अंग्रेजी-शिक्षा के रंग में, वे यों भरमाये जाते थे।
अच्छे और बुरे का भी, नहीं भेद समझ कुछ पाते थे।।

सब गन्दी आदत छूट चली, पर गम को भूला रहीं मदिरा।
एक रोज बहुत पीकर आए, अब देखो ईश्वर की महिमा।।

पतिव्रता-साध्वी 'शिवदेवी, भोजन ले खड़ी बेचारी है।
उस 'मुंशीराम' अलबेले को, मदिरा की चढ़ी खुमारी है।।

फिर धुत्त नशे में थाली पर, एक लात घुमा कर मारी है।
ईश्वर की अद्भुत बातों को, कब समझ सके संसारी हैं।।

सब भोजन-बर्तन बिखर गया, सहमी-सहमी 'शिव देवी' थी।
आँसू टप-टप कर गिरते थे, डरती-डरती कुछ कहती थी।।

थी चढ़ी मद्य की मादकता, वे गन्दी गाली बकते थे।
था होश नहीं उनको अपना, औंधे बिस्तर पर गिरते थे।।

'शिवदेवी' उनको देख-देख, आँखों से अश्रु बहाती हैं।
'जूते-जुराब' उतारे फिर, उनके दो चरण दबाती है।।

धन्य-धन्य 'शिवदेवी' तुम,
तुम जैसी भारत की देवी।
पतितों को अरे! उठाती है,
देकर अपनी ममता सारी।।

फिर आँख खुली तो 'मुंशीराम' देवी के तप को देख-देख।
पछताये अपनी करनी पर, अपने को इतना गिरा 'देख'।।

वह उतर गया सब रंग-ढंग, पत्नी का स्नेह समझ आया।
उस भोली-भाली बाला का, उनको सब रूप समझ आया।।

फिर, बोतल तोड़ फेंक डाली, क्षण में जीवन कुछ ओर बना।
बरसों का मद्यप मुंशीराम 'कल्याण-मार्ग का पथिक' बना।।

एक रोज धमाका हुआ गजब, वह नगर बरेली जाग उठा।
'ऋषि दयानन्द' आगमन देख, सोता समाज भी जाग उठा।।

जब जीवन में कुछ घटता है, संकेत स्वयं मिल जाते हैं।
हम जैसे अल्प बुद्धि प्राणी, यह बात समझ नहीं पाते हैं।।

अपने बेटे को भटका सा, जब देखा पिता 'नानक चन्द' ने।
चिन्ता की रेख उभर आयी, दी उन्हें प्रेरणा निज मन ने।।

फिर बोले युवक बेटे से, एक 'दण्डी' स्वामी आये हैं।
तुम भाषण उनके सुनो अरे, वे अद्भुत स्वामी आये हैं।।

जो मन में शंका रखते हो, शायद उनका उत्तर पाओ।
कुछ दिन को ठहरे हैं यहाँ पर, 'टाऊन हाल' में तुम जाओ।।

वह 'प्रथम दरस ही युवक को, ऐसा आकर्षित कर बैठा।
जैसे 'चुम्बक' के मिलने पर, लोहा खिंचाता ही है जाता।।

'स्कॉट' आदि अंग्रेजों को जब देखा ऋषि-भाषण- सुनते।
तब 'मुंशीराम' के दिल में भी 'श्रद्धा' के भाव लगे जगने।।

ऋषि दयानन्द का दिव्य तेज, उनको आकर्षित करता है।
माधुर्य-भरा वाणी का स्वर उनपर जादू सा करता है।।

मुंशीराम यह देख-देख, विस्मित से होते जाते हैं।
'संस्कृत' के केवल ज्ञाता यें, अदभुत बातें बतलाते हैं।

ऋषि दयानन्द निज तर्कों से, उनको समझाते जाते हैं।
पर मुंशीराम तो ईश्वर पर, विश्वास नहीं ला पाते हैं।।

ऋषि बोले जैसे प्रश्न किए, वैसे ही उत्तर दिए तुम्हें।
जिस दिन उसकी कृपा होगी, वह अपनाएंगे वत्स तुम्हें।।

फिर बोले, जिस दिन आत्मा में 'श्रद्धा' का भाव वपन होगा।
उस ईश्वर की सत्ता पर भी, तुमको विश्वास स्वयं होगा।

वह कुछ घण्टों की जिज्ञासा,
जीवन की स्वर्णिम याद रही।
'निर्भीक दयानन्द' स्वामी की
'ओजस्वी छवि' भी याद रही।।

फिर जीवन में कुछ बनने की, इच्छा ने जोर लगाया है।
'कानून-परीक्षा' देने हित, 'लाहौर' दाखिला पाया है।।

जीवन की कुछ ऐसी बातें, जो अकाल काल घट जाती है।
जीवन को कुछ का कुछ करती, बुद्धि भी ठगी रह जाती है।।

वह चिर-वियोग प्रिय-पत्नी का, जीवन में परिवर्तन लाया।
नन्हें-नन्हें थे 'इन्द्र-हरीश', उन पर सब स्नेह उमड़ आया।।

फिर 'तायी' जी उन चारों का, पालन ममता से करती हैं।
अब 'मुंशीराम' के जीवन में, अद्‌भुत घटनायें घटती हैं।।

एब ठाट-बाट से उदासीन, निज कर्मों में लग जाते हैं।
वे 'जिज्ञासु' मुंशीराम सुनो, जीवन-पथ में बढ़ जाते हैं।

एक दिन ऐसा भी आया था, जो परिवर्तन जीवन में लाया।
ऋषि दयानन्द का दिव्य ग्रन्थ, 'सत्यार्थ-प्रकाश' जब मिल पाया।।

फिर बदल गयी जीवन-सारिणी, अंधियारा भगने लगा स्वयं।
ज्यों-ज्यों पढ़ते वे जाते थे, 'सत्यार्थ-प्रकट हो गए स्वयं'।।

आर्य समाज में दीक्षित हो, 'आचार-विचार' बदल डाले।
'श्री गुरुदत्त' पथ दर्शक थे, जीवन आयाम बदल डाले।।

फिर आर्य समाज में नया जोश, व नयी उमंग भर देते हैं।
यों ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, धर्मप्रचार हित फिरते हैं।।

ऋषि दयानन्द के नामों से, डी.ए.वी. कॉलेज खुलते हैं।
संस्थापक 'लाला हंसराज' तन-मन-धन अर्पित करते हैं।।

यों इधर 'महात्मा मुंशीराम' गुरुकुल का स्वप्न देखते हैं।
'वेदों' की शिक्षा फिर फैले, वे मन में निश्चय करते हैं।

पंजाब सभा में गुरुकुल का, प्रस्ताव एक वें रखते हैं।
गुरुकुल के लिए 'तीस-सहस्र' धन-राशि अर्जित करते हैं।।

हम उनके गुण कहाँ तक गायें, उपकार कहां तक गिनवायें।
उस श्रद्धा के अमर पुजारी ने, कितने गुरुकुल फिर खुलवाये।।

मुल्तान, मटिण्डू, इन्द्रप्रस्थ, गुरुकुल कुरुक्षेत्र भी खुलवाया।
'लाला देवराज' से मिल करके, 'कन्या गुरुकुल' भी खुलवाया।।

यह देश जगे, जन-जन जागे, यों पत्र निकाले स्वामी ने।
'जाति-बंधन' के बन्धन से यों हमें निकाला स्वामी ने।।

यों राजनीति के साथ-साथ, सामाजिक हल-चल कर डाली।
'शिक्षा-क्षेत्र' में गुरुकुल की एक नींव यहां फिर से डाली।।

'गुजरावालां' पञ्जाब-प्रान्त, 'गुरुकुल' का वहां श्री गणेश हुआ।
भारत के भाग्य-दिवाकर का, मानों उस दिन अभिषेक हुआ।।

पर 'मुंशीराम' के मन में जो, चिन्तन की धारा चलती थी।
दिनरात उन्हें उस ओर सदा, मन-ही मन व्याकुल करती थी।।

ऋषियों की वह पावन-वाणी, 'गिरीणां गह्वरे..... गूंज रही।
वन-उपवन में गुरुकुल होबस, यह तड़प उन्हें थी साल रही।।

अन्तस में उठते जो विचार, 'प्रभु' पूर्ण सदा कर देते हैं।
वह बना किसी को कर्ता फिर, सब काम पूर्ण कर देते हैं।

बिजनौर-निवासी अमन सिंह, युग-युग तक यश के भागी हैं।
तन-मन व धन अर्पित करते, ऐसे कहां मिलते त्यागी हैं।।

थे 'अमन सिंह जी' जमींदार, धन-वैभव सब था भरा हुआ।
'पुत्र-विहीन' थे मुंशी जी, जीवन में यही अभाव रहा।।

पर देकर अपना 'धन-वैभव' वे उस सुख को पा जाते हैं।
जिस सुख को इस जगती-तल पर, बिरले ही मानव पाते हैं।।

वे धन्य हुए, हम धन्य हुए, भारत-माता भी धन्य हुई।
'कांगड़ी ग्राम की भूमि भी, उस 'पुण्य-दान' से धन्य हुई।।

'तेरह सौ बीघा' वन्य-भुमि, वे गुरुकुल हित दे देते हैं।
'श्रद्धानन्द-स्वामी' धन्य-भाग, गुण मुंशी जी के गाते हैं।।

गुरुकुल में अब भी -अमन-चौक', उनकी याद दिलाता है।
यह 'कुल' तो सबका ऋणि सखे, जो पुण्य-दान के दाता हैं।।

'चण्डी' के बीहड़-जंगल में,फिर कुटियों का निर्माण हुआ।
एक सच्चे निर्भय साधु का, यह स्वप्न वहाँ साकार हुआ।।

उस 'नीलगिरि' के जंगल में, झरबेरी, बिल्व व खैर खड़े।
हिंस्रक पशुओं की गर्जन से, तन-मन में भय-संताप बढ़े।।

गंगा का तट निर्मल-पावन, 'चण्डी' की रम्य उपत्यका' में।
गुरुकुल' का शुभ श्री गणेश हुआ, १६०२ की पावन बेला में।।

'हरिद्वार क्षेत्र' यह 'पुण्यक्षेत्र', गुरुकुल से शोभित सदा हुआ।
फिरदेश और विदेशों में, यश द्विगुणित इसका ओर हुआ।।

कल-कल करती गंगा-धारा, गुरुकुल का स्पर्श किया करती।
मानो ऐसा करने के मिस, वह अपना स्नेह दिया करती।।

'आचार्य महात्मा-मुंशीराम' निज पौधे का रक्षण करते।
इस तरह अनेकों वर्षों तक, एक 'लक्ष्य-साधना' थे करते।।

अंग्रेजी शासन सत्ता का, भास्कर तब 'अस्ताचल' पर था।
स्वाधीन बनाने भारत को, वीरों का रक्त 'उदयाचल' पर था।।

इस युग में 'स्वामी' जी ने, यह 'अद्भूत-ज्योति' जलायी थी।
जिससे उदीप्त चिरागों ने, एक अनुपम क्रान्ति मचायी थी।।

आर्यभाषा के माध्यम से, शिक्षा सब गुरुकुल देता था।
'पाश्चात्य-पूर्व' के मिश्रण से, एक 'पूर्ण-स्नातक' बनता था।।

जहाँ-जहाँ पर पहुँ 'अलंकार' इस कुला माँ का यश-गान किया।
वेदों की पुण्य-पताका ले, निज लक्ष्य सदा संधान किया।।

'निर्भय व त्यागी' बनने की, शिक्षा गुरुकुल में मिलती थी।
निज 'मातृ-भूमि' पर मिटने की, एक 'क्रान्ति ज्वाल' भी जलती थी।।

नैतिकता और वीरता के, भावों का 'कुल' में नर्तन था।
वेदों की शिक्षा से शिक्षित, गुरुकुल माता का कण-कण था।।

वे 'मात-पिता' बन कर सबके, इस कुल को शोभित करते हैं।
'आचार्य मुंशीराम' सदा इस कुल को पोषित करते हैं।।

'गंगा' के तट पर 'खटुआ' था, वहां पर कुटिया बनवाई थी।
जीवन को समस्त भावनायें, गुरुकुल में सदा समाई थी।

एक दिन ऐसा भी आ पहुँचा, गुरुकुल से विदा हुए स्वामी।
'कनखल-मायापुर' बगिया में, 'सन्यास-ग्रहण' करते स्वामी।।

सत्यानन्द जी महाराज उन्हें, 'सन्यास-ग्रहण' करवाते हैं।
सत् का जीवन में 'व्रत' पाला, 'श्रद्धानन्द वे कहलाते हैं।।

भिगी पलकों से 'कुलवासी', उनको विदाई भी देते हैं।
ब्रह्मचारी उनके जाने से, बस ठगे-ठगे रह जाते हैं।।

वह भव्य रूप स्वामी जी का, सबको आकर्षित करता था।
'आजान बाहु' ऊँचा मस्तक, 'कद' वीर पुरुष सा लगता था।।

वह शुभ्र-श्वेत दाढ़ी उनकी, आँखों में प्रेम-भरी ज्योति।
होठों से मधु-रस टपक रहा, दिल में श्रद्धा का था मोती।।

दृढ़ता की भव्य-मूर्ति थे, 'साहस' की अमर कहानी थे।
अपने युग के वे सिंह पुरुष, श्रद्धानन्द जग में नामी थे।।

हे तपः पूत, हे वीतराग,
तुमने जग को दी नयी दृष्टि।
हे पुण्य लोक, हे पुण्य श्लोक,
तुमने गुरुकुल सी करी सृष्टि।।

गुरुकुल का नाम सुना जिसने, आकर्षित वह हो जाता था।
गुरुकुल में आने को उसका, मन सदा तड़पता रहता था।।

महात्मा गांधी, राजेन्द्र, 'अणे' आये यहां भारत के नेता।
था कौन नहीं यहां पर ऐसा, जिसका दिल 'कुल' ने नहीं जीता।।

अंग्रेजी-शासन-सत्ता भी, चिन्तित थी गुरुकुल-शिक्षा' से।
'अनुदान' नहीं लेता फिर भी, चल रहा 'दान' की 'भिक्षा' से।।

इसलिए एक दिन दिल्ली में, 'वायसराय' उन्हें बुलवाते हैं।
स्वामी जी उनसे बोले यों, हम वेदों की शिक्षा देते हैं।।

पर अंग्रेज़ी शासन सत्ता को, यहां गंध बगावत की आयी।
इसलिए निरीक्षण करने फिर, एक 'टीम' यहां पर भिजवायी।।

गुरुकुल की बातें देख-देख, वें 'अभिभूत' हो जाते हैं।
अपनी रिंपोर्ट मे गुरुकुल को, एक 'साधना-स्थल बतलाते हैं।।

जिन विस्फोटों की चर्चा वें, अपनी रिपोर्ट में कर न सके।
गुरुकुल में निर्मित 'क्रान्तिबम', ब्रह्मचारी उनको दिख न सके।।

चेम्सफोर्ड, आए गुरुकुल, अभिनन्दन उनका होता है।
अपनत्व भावना देख-रेख, दिल उनका गद-गद होता है।।

गुरुकुल के आंतरिक शासन में, 'परिवार-भावना' पलती थी।
सुख-दुःख तो सबका साझा था, नहीं द्वेष-भावना पलती थी।।

सब 'जीवन-यापन' की वस्तु, गुरुकुल उपलब्ध कराता था।
गुरुकुल का पैसा गुरुकुल में, अपना ही 'चक्र' चलाता था।।

देकर गुरुकुल का भार सभी,
निज 'धर्मपुत्र के हाथों में।
'बर्मा' की यात्रा करते हैं,
'धनहेतु, गुरुकुल कार्यों में।।

फिर 'रामदेव जी' गुरुकुल का, सब भार ग्रहण कर लेते हैं।
'आचार्य' बनकर गुरुकुल के, संरक्षण इसका करते हैं।।

'गंगा के पार' बसा गुरुकुल, क्या अपनी गुरुता रखता था।
था चमन बना बीहड़ जंगल, जन-जन को सुरभित करता था।।

अच्छा ही अच्छा था गुरुकुल, नहीं लेश बुराई दिखती थी।
'उत्सव' पर भारत की जनता, 'दर्शन हित' सदा उमड़ती थी।।

दुनियादारी से दूर बसे, ब्रह्मचारी अजब-अनोखे थे।
ब्रह्म-बल में बढ़चढ़ कर वें तो, तन-बल में अजब अनोखे थे।।

कोई 'कार' रोकर भुजबल से, 'ब्रह्म-बल' का रूप दिखाते थे।
वे 'सत्यपाल' 'महेन्द्र' निडर, चीतों से भी भिड़ जाते थे।।

जंजीर तोड़कर, छाती पर, 'भारी पत्थर' कुटवाते थे।
लाठी-भाले, तलवार चला, 'तन-बल' के खेल दिखाते थे।।

उनकी बातों को देख-रेख, 'दर्शक' खुशियाँ में भरते थे।
वे नाम कमा कर गुरुकुल का, 'यश' द्विगुणित इसका करते थे।।

संस्कृत, अंग्रेजी हिन्दी की, 'त्रिवेणी' कुल में बहती थी।
अद्भुत, अद्भुत वह गुरुकुल था, यहां दिव्य-भावना रमती थी।।

एक रोज विकट संकट आया,
गंगा में 'भीषणा-तरंग' उठी।
सन् २४ का वह दुर्दिन था,
'कुलभूमि' जल से पूर हुई।।

कच्चे झोंपड़ बह गए सभी, कुछ भवन-दीवारें टूट गयी।
आचार्यराम के माथे पर, चिन्ता-चिन्तन की रेख पड़ी।।

उस भव्य-भारती-मन्दिर के, अवशेष आज भी बोल रहे।
थे कभी हमारे दिन स्वर्णिम, कुछ खंडहर अब भी सोच रहे।।

फिर 'वर्तमान इस गुरुकुल' का,
'शाहपुराधीश' ने न्यास किया।
'श्री रामदेव' ने दान-मांग
इसका फिर से उद्धार किया।।

यों उजड़े गुरुकुल में फिर से, एक नूतन जीवन आया था।
ईश्वर की महिमा अदभुत है, फिर से यह पुष्प खिलाया था।।

'कुलपिता' देखकर गुरुकुल को, मन ही मन खुशी मनाते हैं।
'दिल्ली' को 'कार्य-क्षेत्र' बना, सोता यह देश जगाते हैं।।

स्वामी जी सामाजिक कार्यों में, फिर अपना समय लगाते हैं।
अच्छूतों के उद्धारक बनकर, 'शुद्धि' का बिगुल बजाते हैं।।

'गांधी जी' का सहयोग किया, सत्याग्रहों में भी भाग लिया।
'मियाँवाली, जेल में बन्द रहे, हिन्दुओं का भी उद्धार किया।।

उपकार-भावना जीवन में, जिसको बेचैन किया करती।
वह सुख से कभी न सोता है, एक लगन उसे प्रेरित करती।।

'बेताज बादशाह' दिल्ली के, स्वामी जी तब कहलाते थे।
उनके विचार सुनने को सब, आकुल-व्याकुल से रहते थे।।

वह 'तांगेवाला' धन्य-भाग, जो स्वामी जी को लाया था।
मुस्लिम जनता ने जय-जय से, धरती-आकाश गुंजाया था।।

'जामा-मस्जिद' के मिम्बर से, 'विश्वानि देव..' की गूंज हुई।
सुनकर वह अनुपम वाणी वहां, जनता भी भाव-विभोर हुई।।

भारत की नहीं, विश्व की भी, यह एक 'अनोखी घटना' है।
'कट्टर-मजहबी' इस्लाम कहां, कभी अन्य धर्म को गिनता है।।

पर भावनायें मानव को वहाँ, पहुँचा देती है क्षण भर में।
जहाँ केवल मानव, मानव है, नहीं होता कोई फिर मन में।।

पर भेद-भाव की नीति पर, 'अंग्रेजी-शासन' चलता था।
भारत की जनता एक न हो, यह उनका मकसद रहता था।।

'ब्रिटिश-सत्ता की आँखों में, स्वामी जी खटका करते थे।
'हिन्दू-मूस्लिम' सब एक बने, वें यही प्रचारा करते थे।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' की जय-जय, सब ओर सुनाई पड़ती थी।
उनके बस एक ईशारे पर, लाखों की भीड़ उमड़ती थी।।

'रोलेट-एक्ट' का था विरोध, भारत-माता हुंकार उठी।
जन-जन में था आक्रोश-रोष, स्वाधीन-भावना' जाग उठी।।

'श्रद्धानन्द-स्वामी' जनता को, निजभाषण से झकझोर रहे।
उस 'गर्म हवा पर थोड़ी सी, 'शान्ति फुहार' थे छोड़ रहे।।

फिर 'रानी-बाग' से चली वीर-सत्याग्रहियों की टोली थी।
आगे-आगे स्वामी जी थे, पीछे सहस्रों की टोली थी।।

वह 'चान्दनी चौक' वह घन्टाघर, अब तक साक्षी है बना हुआ।
उस वीर अमर बलिदानी का, साहस वहां अद्भुत प्रकट हुआ।।

चलते-चलते रूक गये सभी, आगे 'संगीने' तनी खाड़ी।
स्वामी जी थे निर्भीक सिंह, किरचों के आगे देह अड़ी।।

बोले स्वामी जी किसने यहां, लोगों पर 'फायर' किया अरे।
यदि हिम्मत है मैं खड़ा यहाँ, मुझ पर फायर तुम करो अरे।।

यह घटना जब घट रही वहाँ, एक 'अफसर' घोड़े पर आया।
स्वामी जी का यह रूप देख, मन ही मन था वह घबराया।।

वह बोला- 'फायर गलत हुआ', पीछे 'पलटन' को हटा दिया।
जयघोषों से पट गयागगन, जनता ने फिर प्रयाण किया।।

यह पाँच मिनट, की घटना बस, जीवन की अद्भुत घटना है।
जग में कुछ करने वालों को, पड़ता जीवन में तपना है।।

श्रद्धानन्द स्वामी की गाथा
क्या अजब, अमोल, अनूठी है।
गिरने वालों उठकर देखो,
'हीरे' से 'जड़ी' अंगूठी है।।

स्वामी जी इतने व्यस्त हुए, सुध-बुध तन की भी भूल गए।
सन्यासी-धर्म निभाने को, मोह-ममता से भी दूर हुए।।

कभी 'काशी' में, कभी 'पूना' में हिन्दु महासंघ बनाते हैं।
कभी 'दिल्ली' में कभी 'आगरा' में, शुद्धि की धूम मचाते हैं।।

फिर 'कालीकट' में पहुँच गए, 'मद्रास' यात्रा कर डाली।
'गोखले-हॉल' में भाषण की, अद्भुत वह झड़ी लगा डाली।।

मथुरा में जाकर 'ऋषिवर' की वे जन्मशती मनवाते हैं।
पंजाब प्रान्त में जा पहुंचे, 'आर्यों' को पुनः जगाते हैं।।

'गुजरात राज्य' नवसारी में, ऋषिवर की शती मनाते हैं।
'भागलपुर' बिहार में हिन्दी की, महिमा सबको समझाते हैं।।

कभी 'बेलगाँव' में गांधी जी, उनको सादर बुलवाते हैं।
कभी 'उत्तर में, कभी 'दक्षिण' में, निज धर्म-ध्वजा फहराते हैं।।

फिर बनें 'शुद्धि' के सूत्रधार।
जनता के तुम थे हृदयहार।
करके 'मलकाने' शुद्ध-पूत,
लाये शद्धि का प्रबल-ज्वार।।

फिर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर, शुद्धि का डंका बजता है।
यह 'ग्राम' हिन्दू बन गयाअरे! दूजा तैयारी करता है।।

शुद्धि-आन्दोलन के कारण, कितने ही उनसे रूष्ट हुए।
'महात्मा गांधी' स्वामी जी से, अन्तर्मन में नाराज हुए।।

पर रोके ना रूक पाती है, अग्नि-पानी की ज्वालायें।
जग में कुछ का कुछ कर देती, मानव की उद्दीप्त भावनायें।।

'शुद्धि' का यह था प्रचण्ड ज्वाल, वह रोके ना रूक पाया है।
जो बिछुड़ गए थे अपनों से, उनको अपना बनवाया है।।

शुद्धि का यह था 'महासमगर', 'विजय-अभियान' चलाया था।
'असगरी बेगम' को शुद्ध किया, 'शान्ति' यह नाम रखाया था।।

कट्टर इस्लामी मुल्ला तो, यह सहन नहीं कर पाते हैं।
'जामा मस्जिद' के 'श्रद्धानन्द', शैतान नजर अब आते हैं।।

धमकी पर धमकी भरे पत्र, स्वामी जी प्रतिदिन पाते हैं।
पर वीर-पुरुष, समरांगण से, पीछे कब पैर हटाते हैं।।

भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर, फिर रक्तिम छींटे पड़ते हैं।
श्रद्धानन्द स्वामी निज खूं से, इतिहास नया ही रचते हैं।।

सर्दी हो चाहे गर्मी हो, वे उसे झेलते जाते थे।
'सत्तर' की आयु पार हुई, फिर भी विश्राम न लेते थे।।

वे 'इन्द्रप्रस्थ' की यात्रा में, थक गए सख्त बीमार हुए।
'ज्वर-शीत' चढ़ा तन पर ऐसा, 'स्नेही जन अति उदास हुए।।

स्वामी जी रोगी-शैय्या पर, विश्राम कक्ष में करते थे।
'डा० अन्सारी' देख-रेख, पूरे तन-मन से करते थे।।

तब एक छली, कपटी, मदान्ध, उनसे मिलने को आता है।
पानी पीने के छल से वह, सेवक को दूर हटाता है।।

'पिस्तौल' निकाला कायर ने, 'फायर' भी फिर कर डाले हैं।
'बलिदान' धर्म-हित हुए 'पिता', प्रभु के सब काम निराले हैं।।

'बलिदान' भवन की दीवारें, चित्कार उठी, दुत्कार उठी।
उस 'अब्दुल रशीद' कसाई को, भारतमाता धिक्कार उठी।।

तेईस तारीख सन् छब्बीस का, वह दुर्दिन साल गया सबको।
'कुलवासी' आकुल-व्यांकुल थे, 'ब्रह्मचारी 'पिता' कहें किसको।।

ओ, बुझदिल कायर, हत्यारे,
धिक्कार तुझे, लानत तुझको।
ओ मानवता के महाकलंक,
'दोजख' भी नसीब न हो तुझको।।

फिर भगते-भगते कायर को, जब 'धर्म सिंह' ने पकड़ा है।
गोली 'सेवक' को भी मारी, फिर 'पण्डित जी' ने पकड़ा है।।

थे बलिष्ठ 'धर्मपाल'[1] जी तन से, अब्दुल रशीद को रगड़ा है।
फिर आयी पुलिस खबर पाकर, उस दुष्ट क्रूर को जकड़ा है।।

---

(१) पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार भू.पू.स. मुख्याधिष्ठाता

अस्ताचल पर आसीन 'रवि'
सब दृश्य देखाते जाते थे।
लाखों लोगों की आँखों में
उस दिन आँसू ही आँसू थे।।

रंग लाल-लाल था चहुं ओर, हत्यारा खेल गया होली।
श्रद्धानन्द स्वामी अमर रहे, जन-जन की टोली थी बोली।।

थे धर्मवीर, थे 'अमरवीर'
थे कर्मवीर, थे 'धीर-वीर'।
श्रद्धानन्द स्वामी सचमुच ही
थे निर्मल गंगा से पवित्र 'नीर'।।

उत्थान-पतन, जीना-मरना, जीवन के साथ लगे रहते।
कभी खुशियों के मेले यहाँ पर, कभी आँसू बन पीड़ा कह देते।।

उस वीर अमर-बलिदानी के 'गुरुकुल' का भी उत्थान हुआ।
'सौ वर्षों' का इतिहास अमर, जग में इसका सम्मान हुआ।।

स्वामी जी ने जो पौधा, अन्तर्भावों से रोपा था।
'झंझावातों, से बचा इसे, 'श्री रामदेव' ने सींचा था।।

'श्री इन्द्र', 'विशम्भर नाथ' इसे, अपना संरक्षण देते हैं।
कभी नन्दलाल जी, सहायक बन प्रबन्ध कुशलता लाते हैं।।

श्री अमरनाथ सप्रूजी तो मन-धन दोनों ही देते हैं।
इस तरह अनेकों लोग यहां, निज जीवन अर्पित करते हैं।।

'बिरला जी' जैसे 'दानवीर', यहाँ 'मन्दिर वेद' बनाते हैं।
'श्री दीवानचन्द' व 'लब्भुराम' गुरुकुल हितदान जुटाते हैं।।

फिर अभयदेव जी, सत्यव्रत जी, सेवा वर्षों तक करते हैं।
श्री धर्मपाल जी निज मन से, इसका संरक्षण करते हैं।।

'प्रिय व्रत' पालित यह गुरुकुल तो, स्वर्णिम आभा प्रकटाता था।
था स्वर्ग तुल्य गुरुकुल जीवन, आने वाला सुख पाता था।

श्री विश्वनाथ, सत्यपाल यहां, इसका वर्चस्व बढ़ाते थे।
श्री बागीश्वर श्री रामनाथ, सुखदेव देव-समभाते थे।।

'श्री गोवर्द्धन बलभद्र' पुनः, वेदों की ध्वनि गुजाते हैं
'रघुवीर शास्त्री' शिक्षाविद् एक नयी प्रेरणा लाते हैं।।

उस ऊथल-पुथल के युग में भी, गुरुकुल नहीं डावाँ-डोल हुआ।
कभी 'महेन्द्र प्रताप, कभी गंगाराम, 'अग्नि' व 'इन्द्र' का जोर हुआ।।

फिर 'सत्यकाम', सत्यकेतु जी, इसका संरक्षण करते हैं।
श्री सूर्यदेव श्री महाविर सिंह, कुलाधिपति, विजिटर बनते हैं।।

दुर्दिन भी आते हैं जग में,
सुख दिन भी धूम मचा जाते।
संस्था के जीवन में भी तो
उत्थान-पतन आते-जाते।।

है समय-समय की बातें सब, यह समय बड़ा कातिल होता।
कभी हंसता है मानव-मन तो, कभी किसी बात से है रोता।।

अब नूतन युग के साथ-साथ, परिवर्द्धन गुरुकुल में आया।
'श्री धर्मपाल' कुलपति यहां, कर रहे पलट इसकी काया।।

संस्थान खोल कर नये-नये, वे इसका रूप निखार रहे।
श्रद्धा-नत हो, श्रद्धानन्द की, कुलवासी जय उच्चार रहे।।

आओ, श्रद्धा के अमर पुजारी के, जीवन की यह झांकी पढ़ लें।
यह गुरुकुल उनका स्मृति-चिन्ह आओ, इसका अभिनन्दन कर लें।

वे देश रत्न, वे राष्ट्र-रत्न,
उनका जीवन अद्भूत ललाम।
भारत के स्वर्णिम पृष्ठों पर
अंकित 'श्रद्धा' का अमर नाम।।

(स्वामी श्रद्धानन्द
की अमर कहानी के अंश)

हिंदी का पुट देकर पत्रकारिता को नई दिशा दी थी स्वामी श्रद्धानन्द ने

प्रो० विष्णुदत्त राकेश

आधुनिक भारत के शैक्षिक तथा राजनैतिक परिदृश्य के निर्माण में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानंद सरस्वती की अहम भूमिका रही है। हरिद्वार की इस पावन धरती से ही आर्य जगत् की यह विभूति स्वतंत्र भारत की मान्य हस्ती बनी। स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर भारतीय शिक्षा प्रणाली को उद्घाटित किया।

२३ दिसंबर १९२६ को अंग्रेजी सरकार की कूटनीति के तहत एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उन्हें गोलियों से छलनी कर डाला। उनके बलिदान ने महात्मा गांधी, जवाहर लाल नेहरु, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं० मदन मोहन मानवीय, मौलाना मोहम्मद अली को भीतर तक हिला दिया। भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास सदैव स्वामी श्रद्धानन्द का ऋणी रहेगा। उनके गुरुकुल से निकल कर कितने रणबाकुरों ने राष्ट्र की वेदी पर जीवन होम किया। श्रद्धानंद के गुरुकुल को उस समय स्वातंत्र्य वीरों की कर्म भूमि कहा जाता था।

हिंदी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के हिंदी आचार्य डॉ० विष्णुदत्त राकेश की स्वामी श्रद्धानंद पर एक पुस्तक साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित हो चुकी है। प्रस्तुत है स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में कुछ अछूते विषयों पर डॉ० राकेश से लंबी वार्ता के महत्वपूर्ण अंश-

स्वामी श्रद्धानन्द धर्म और शिक्षा के सुधार के लिए कार्यरत रहे किंतु राजनीति के क्षेत्र में उनका पदार्पण क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि यह ठीक है कि स्वामी जी मूलतः आर्य समाज के नेता थे। १८८४ में सत्यार्थ प्रकाश से प्रभावित होकर धार्मिक रुढ़िवाद के विरुद्ध आर्य समाज के सभासद बने थे पर १८८८ में कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में स्वामी जी ने भाग लिया और नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ जुड़कर पंजाब में राष्ट्रीय विचारों का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन्होंने कांग्रेस के लक्ष्य पर ट्रिब्यून में लेख भी लिखा। इसके तुरंत बाद उन्होंने १६ फरवरी १८८६ को उर्दू में **सद्धर्म प्रचारक** नामक साप्ताहिक भी निकाला।

स्वामी जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में मार्गदर्शक कार्य किया है पर हिंदी में पत्र न

निकालकर उन्होंने पहले उर्दू में पत्र क्यों निकाला ? इस पर राकेश जी ने कहा कि स्वामी जी का कार्य क्षेत्र पंजाब था। पंजाब उर्दू का गढ़ था। आर्य समाज तथा राष्ट्रीय आंदोलन के विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामी जी को उर्दू में पत्र निकालना पड़ा। उर्दू पत्रकारिता पर अरबी-फारसी का रंग था पर स्वामी जी ने संस्कृत तथा हिंदी का पुट देकर उर्दू पत्रकारिता को नई दिशा दी। सद्धर्म प्रचारक के प्रारंभिक अंकों में धर्म, दर्शन, उच्च शिक्षा तथा राजनीति पर जो टिप्पणियां स्वामी जी ने लिखी हैं वह उर्दू को विषम तथा प्रस्तुत दोनों ही दृष्टियों से समर्थ बनाती हैं।

स्वामी जी की पत्रकारिता पर जैसा कार्य होना चाहिए था, अभी तक नहीं हुआ है। आप तो विश्वविद्यालय में हिंदी पत्रकारिता का अध्यापन भी कर रहे हैं, अतः आपको इस दिशा में कार्य कराना चाहिए, इस पर उन्होंने कहा कि स्वामी जी की पत्रकारिता पर उन्होंने तथा विष्णु प्रभाकर ने साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' में विचार रखे हैं।

सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित जीवनी 'स्वामी श्रद्धानन्द', इंद्र विद्या वाचस्पति द्वारा लिखित पुस्तक 'श्रद्धानंद' में स्वामी जी की पत्रकारिता पर प्रकाश डाला गया है। एक छात्र सुभाष चंद्र भाटी ने शोध प्रबंध लिखकर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

स्वामी जी ने हिंदी पत्रकारिता को क्या दिशा दी ? इस पर राकेश जी ने कहा कि, स्वामी जी ने उर्दू, हिंदी तथा अंग्रेजी में पत्र निकाले। १६०७ में माधवराज सप्रे के संपादन में जब तिलक जी के मराठी केसरी का हिंदी संस्करण निकला तब स्वामी जी ने उसी वर्ष सद्धर्म प्रचारक को उर्दू से हिंदी में निकालना शुरु किया। यद्यपि यह घाटे का सौदा था, पर राष्ट्रभाषा हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने यह चुनौती स्वीकार की। १६२० में स्वामी जी ने गुरुकुल से **श्रद्धा** नामक साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारंभ किया तथा गुरुकुल के स्थिर कोष के निर्माण के लिए वर्मा की यात्रा की। १६२६ में उन्होंने अंग्रेजी में **द लिबरेटर** नामक साप्ताहिक निकाला। अस्पृश्यता उन्मूलन तथा अछूतोद्धार को राजनीतिक मंच से विशाल कार्यक्रम का रूप देने में उन्होंने पहल की थी। श्रद्धा और लिबरेटर विघटनकारी शक्तियों को जनता के बीच नंगा करने के लिए निकाले गए थे।

स्वामी जी और अछूत समस्या पर उन्होंने कहा कि अछूत समस्या का दोहन

सर्वप्रथम अंग्रेजों ने बांटो और राज्य करो की नीति को अमली जामा पहनाने के लिए किया था। फिर डॉ० अंबेडकर ने इस दिशा में कार्य किया पर वह आक्रोश और घृणा का वातावरण ही तैयार कर सके। बाद के राजनीतिज्ञों ने वोट की सत्ता के लिए अपने हित में उनका दोहन किया। आज देश इसी कारण एक विस्फोटक स्थिति में पहुंच गया है। यह दुर्भाग्य ही है कि इस दिशा में पहल करने वाले स्वामी जी के इस पक्ष को राजनीतिज्ञों ने सामने नहीं आने दिया।

१६२० में स्वामी जी ने ही नागपुर कांग्रेस में अछूतोद्धार पर प्रकाश डाला। १६२४ में 'हिंदू संगठन' नामक पुस्तक लिखकर उन्होंने हिंदुओं की प्रगति में अस्पृश्यता को बाधक तत्व सिद्ध किया। चमार, घेड़, डोम तथा मेघों के उद्धार के लिए उन्होंने पंजाब में सक्रिय आंदोलन चलाए। उन्होंने कहा मेरे लिए अस्पृश्यता के अभिशाप को उखाड़ फेंकना भारतीय राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए आवश्यक शर्त है। १६१६ में अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष पद से बोलते हुए स्वामी जी ने दो ही ज्वलंत बिंदु, अस्पृश्यता निवारण तथा राष्ट्रीय शिक्षण विचारार्थ प्रसतुत किए थे। गांधी जी ने इसलिए लिखा था- 'स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति गहरा प्रेम था।' गांधी जी के जेल जाने के बाद कांग्रेसी नेताओं ने इस कार्यक्रम को भुला दिया इससे रुष्ट होकर स्वामी जी ने सरदार पटेल को दो कड़े पत्र लिखे थे।

उन्होंने बताया कि १६११ में महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु एन्ड्रज से हुआ। दीनबन्धु प्रवासी भारतीयों के लिए व्याकुल रहते थे। दीनबंधु ने ही पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी तथा पंडित तोताराम सनाढ्य को इस दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। गांधी जी से महात्मा मुंशीराम का परिचय दीनबंधु ने ही कराया था। गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने मजदूरी करके चंदा भेजा था। गांधी जी जब भारत आए तो उनके फोनिक्स आश्रम के विद्यार्थी तब तक गुरुकुल में रहे, जब तक वर्धा में आश्रम नहीं बना। ८ अप्रैल १६१५ को गंगापार गुरुकुल में गांधी जी पधारे। मुंशीराम जी ने वहां आयोजित समारोह में उन्हें मिस्टर गांधी न कहकर महात्मा गांधी कहकर संबोधित किया और और तब से मिस्टर गांधी को पूरे देश ने महात्मा गांधी कहना शुरु कर दिया।

गुरुकुल की स्थापना तथा शुद्धि आंदोलन को लेकर उन्हें अपने समकालीनों के बीच काफी विरोध झेलना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ ? इस पर उन्होंने कहा कि गुरुकुल पारंपरिक उर्दू, संस्कृत तथा अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं से भिन्न शिक्षण संस्था थी। समान वस्त्र, समान भोजन, समान आवास तथा समान शिक्षा का प्राचीन आदर्श लेकर उन्होंने राष्ट्रवादी, चरित्रवान् तथा देशोपयोगी छात्रों के निर्माण के लिए यह प्रयोग किया था फिर कट्टरपंथियों के विपरीत यहां वेद वेदांग के पठन-पाठन का अधिकार बिना किसी जाति-पांति के भेदभाव के सबके लिए सुरक्षित था, अतः विरोध होना स्वाभाविक था।

एक ओर उन्हें अपने अंदर से विरोध झेलना पड़ा और दूसरी ओर अंग्रेज सरकार गुरुकुल को राजद्रोह का केंद्र मानकर शंका और संदेह से देखती रही। शुद्धि आंदोलन भी इस्लाम और ईसाई मत के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए था। लिबरेटर में उन्होंने शुद्धि का पक्ष अत्यन्त तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया। १९२३ में आगरा में उन्होंने शुद्धि सभा की स्थापना की फिर काशी के महासम्मेलन में भाग लेकर देशव्यापी कार्य शुरु किया। कालीकट में दलित जातियों के आंदोलन का नेतृत्व किया तथा १९२५ में दक्षिण भारत की धर्मयात्रा संपन्न की।

अंग्रेज सरकार को यह सब अच्छा न लगा और एक कट्टर धर्मांध व्यक्ति ने किसी कूटनीति के तहत २३ दिसंबर १९२६ को उन्हें गोली मार दी। एक सन्यासी भारतमाता की बलिवेदी पर शहीद हो गया। उनका असीम साहस, निर्भीकता राष्ट्र प्रेम तथा स्वाधीनता का जज्बा अनुकरणीय था। स्वामी जी ने बलिदान से देश का नया इतिहास लिखा।

(प्रस्तुति - कौशल सिखौला)

(२३ दिसम्बर, ९७ के अमर उजाला से साभार)।

हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द : बहुमुखी प्रतिभा के धनी

डॉ रामेश्वर दयाल गुप्ता पी-एच.डी.
आर्य नगर, ज्वालापुर

प्रायः स्वामी जी की चर्चा पढ़कर उनकी एक ही प्रतिभा उजागर की जाती रही है, और वो है उनके द्वारा आर्ष शिक्षा प्रणाली को जागृत करने हेतु गुरुकुल कांगड़ी आदि की स्थापना और संचालन। निःसन्देह यह एक बात ही उन्हें सदा-सदा के लिए अमर रखने को पर्याप्त है पर देश के सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की कहानी स्वामी जी महाराज के इन दो दिशाओं में किये गये प्रयत्नों के अभाव में अधूरी है। इनका संक्षिप्त परिचय यूँ है :-

(१). गांधी जी ने जब दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के विरुद्ध वहां की गोरी सरकार के अत्याचारों के विरोध स्वरूप संघर्ष छेड़ा तो स्वामी जी ने गुरुकुल के अध्यापकों तथा छात्रों के एक सप्ताह के भोजन भर के दाम उनके पास सत्याग्रह निधि हेतु भेजें। जब गांधी जी ने भारत आकर यहां की राजनीति में प्रवेश किया तो सबसे पहले गुरुकुल में आये और धन्यवाद दिया। तभी महात्मा मुंशीराम (अर्थात् स्वामी श्रद्धानन्द) ने उन्हें महात्मा कह कर सम्बोधित किया। एक महात्मा ने दूसरे महात्मा को जन्म दिया। यह दूसरी बात है कि एक मुसलमान द्वारा और दूसरा हिन्दु द्वारा मारा गया। इसी की खोज हेतु दोनों महात्माओं के दृष्टिकोण को देखना होगा।

(२.) सन् १९२१ में देश में पहला हिन्दु मुस्लिम समझौता हुआ क्योंकि गांधी जी ने उस समय के मुसलमानों की इस मांग हेतु आन्दोलन करना मान लिया कि तुर्कों ने जो खलीफा की संस्था खत्म कर दी है उसे पुनः वापिस लाने के लिए अंग्रेज सरकार तुर्की पर जोर डाले। महात्मा मुंशीराम भी इस आन्दोलन में शामिल हो गये। दिल्ली में हकीम अजमल खां उन्हें जामा मस्जिद में व्यख्यान देने ले गये। दुनियाँ के मुस्लिम इतिहास में यह पहला और अन्तिम उदाहरण था। जबकि एक गैर मुस्लिम ने इमाम के मैम्बर पर खड़े होकर भाषण दिया हो। और वह भी वेद मन्त्र पढ़ने के बाद। जो जुलूस दिल्ली में निकाला गया उसे रोकने को फौज खड़ी की गयी थी। जुलूस का नेतृत्व स्वामी जी कर रहे थे। टुकड़ी के कप्तान ने संगीन जुलूस पर चलाने का आदेश दे दिया। स्वामी जी ने छाती खोल दी और कहा कि पहले गोली मुझ पर चलाओ। तपाक से अंग्रेज अफसर घोड़ी पर चढ़ा। उधर आ गया और इस अद्‌भुत शौर्य को देखकर दंग रह गया और संगीने वापिस का उसने आर्डर दे दिया। यह घटना टाउन हाल के सामने की है। जहां कि चांदनी चौक में स्वामी जी की मूर्ति स्थापित है।

(३.) इस सम्मान की पूर्व पीठिका दो वर्ष पूर्व ढूंढ़ी जा सकती है। सन् १६१८ में जलियाँ बाला बाग अमृतसर में जनरल डायर ने कांग्रेस की जनसभा पर मशीनगनों से गोली चलवाकर ३७८ व्यक्तियों को मारा और १२०० लोगों को घायल किया था। विरोध स्वरूप सन् १६१६ में अमृतसर में ही कांग्रेसो का वार्षिक अधिवेशन आहूत किया गया। कोई डर के मारे प्रबन्ध करने को तैयार नहीं था। तब स्वामी जी ने अधिवेशन का बीड़ा उठाया। उन्हें ही स्वागताध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने पहली बार कांग्रेस के महाधिवेशन में स्वागत भाषण हिन्दी में पढ़ा। वहीं पर अंग्रेजी राज्य के खिलाफ सत्याग्रह की डुगडुगी बजायी गयी थी।

(४.) प्रश्न यह है कि ऐसा गांधीवादी व्यक्ति हिन्दुवादी कैसे हो गया? इसे जानने हेतु हमें काकीनाड़ा में हुए कांग्रेस महाधिवेशन की ओर जाना होगा। उसके सभापति मौलाना मुहम्मद अली थे। रियासत रामपुर के एक कलवार वैश्य परिवार के मुसलमान हो जाने पर शायद वे चौथी पीढ़ी में थे, अपने अध्यक्षीय भाषण में मौलाना ने कहा कि देश के सात करोड़ अछूत मुसलमानों को दे दो। और तब तीस करोड़ की आबादी वाले इस देश में हिन्दु तथा मुसलमान बराबर हो जायेंगे और सच्ची हिन्दु मुस्लिम एकता स्थापित हो जायेगी। स्वामी जी ने खड़े होकर विरोध किया और वहां से उठकर चले आये।

(५.) और स्वामी जी ने इस अभागे देश में सबसे पहला अछूतोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ किया। हिन्दुओं से अपील की कि अछूतों को न्याय दो वरना "ये गैरों के घर जायेंगे" सारे देश में और सारी आर्य सभाओं में अछूतोद्धार सभाएं बनीं। उनके एक शिष्य राज्यरत्न आत्माराम अमृतसरी ने जो उस समय बड़ौदा राज्य में शिक्षा निदेशक थे, राजकीय सहायता से अम्बेडकर को अमेरिका पढ़ने भेजा। फलस्वरूप अछूतों का मुसलमान बनना बंद हो गया यदि उन दिनों हिन्दुओं ने थोड़ी और उदारता दिखा दी होती तो इस दशाब्दी में यह समस्या नहीं होती।

(६.) अब प्रश्न रह गया उनका जो मुस्लिम राज्यकाल में बल के जोर से मुसलमान बनाये गये थे। स्वामी जी महाराज ने एक अद्‌भुत बात की। शताब्दियों से हिन्दु क्षेत्र का दरवाजा बन्द था। उसमें से निकलने का तो रास्ता था अन्दर आने का नहीं। उन्होंने मुसलमानों आदि के हिन्दु समुदाय में घुसने का दरवाज़ा खोल दिया। उसे शुद्धि आन्दोलन का नाम दिया आजकल हिन्दु संगठन उसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। नव मुस्लिम (अर्ध मुस्लिम) धड़ाधड़ हिन्दु बनने लगे और असगरी बेगम को हिन्दु बनाने के कारण अब्दुल रसीद ने उन्हें गोली से मार दिया। यह भी दिल्ली में ही हुआ। गांधी जी ने शुद्धि आन्दोलन के खिलाफ लिखा। शुद्धि कार्य की गति धीमी पड़ गयी। यदि आन्दोलन चलता रहता तो १६४७ में पाकिस्तान नहीं बनता। ध्यान रहे कि १६४७ में बंगाल में मुसलमान ५२% तथा पंजाब में ५३% ही आंबादी में थे। बीस वर्ष में ३% को हिन्दु बना लेना सम्भव था। क्योंकि उन पर धन-बल, जन-बल, शस्त्र-बल और शास्त्र बल सभी था। पर अब पछतावे क्या होत है जब चिड़ियां चुग गयीं खेत। काश! उस समय महात्मा मुंशीराम की बात मान ली गई होती।

स्वामी श्रद्धानन्द

(डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शान्तिनिकेतन)

हमारे देश में जो सत्य-व्रत के ग्रहण करने के अधिकारी हैं, एवं इस व्रत के लिये प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहां पर है, वहां पर स्वामी श्रद्धानन्द से इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी इसके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं उनके चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है। बार-बार इतिहास में देखा जाता है कि जिन्होंने अपना सब कुछ देकर कल्याण-व्रत को ग्रहण किया है, अपमान और अपमृत्यु ने उनके ललाट पर जय-तिलक की तरह अपना स्थान जमाया है। महापुरुष आते हैं प्राण की मृत्यु के ऊपर जय करने के लिये, सत्य को जीवन की सामग्री बनाने के लिये। हमारे खाद्य द्रव्य में प्राण देने का जो उपकरण है, वह वायु में भी है, एवं वैज्ञानिक परीक्षागार में भी है। परन्तु जब तक वह उद्भिज प्राणी में जीव आकार नहीं धारण करता तब तक प्राण की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। केवल वाक्यों के द्वारा आकर्षण कर उसे जीवन-गत करने की शक्ति कितनों में है? सत्य को जानते बहुत हैं, किन्तु उसको मानता वही है जो विशेष शक्तिमान् है। प्राणों की आहुति के द्वारा मान कर ही हम उस सत्य को सब मनुष्यों के लिये उपयोगी बना देते हैं। यह मानकर चलने की शक्ति ही एक सुन्दर वस्तु है। इस शक्ति की सम्पद् को जो समाज को अर्पित करते हैं उन्हीं के दान का महामूल्य है। सत्य के प्रति उसी निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था वही सार्थक हुआ। सत्य की उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा वे अपनी साधना को मूर्ति के रूप में सजीव कर गये हैं। इसी से उनकी मृत्यु भी प्रकाशमय हो उनकी श्रद्धा को उस भयहीन दोषहीन तथा क्रांतिहीन अमृतमय छवि को उज्वल कर प्रकाशित कराती है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उन के चरित्र के मध्य आज हम सार्थक आकार में देख रहे हैं। यह सार्थकता बाह्य फलस्वरूप नहीं है, अपितु निज की ही अकृत्रिम वास्तविकता में है।

विधाता जब दुःख को हमारे पास भेजता है तब वह अपने साथ एक प्रश्न लेकर आता है। वह हम से पूछता है कि तुम हम को किस भाव से ग्रहण करोगे? विपद् आवेगी

नहीं ऐसा नहीं हो सकता-संकट का समय उपस्थित होता है, उद्धार का कोई भी उपाय नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार विपद् का हम व्यवहार करते हैं इसी के ऊपर प्रश्न का सदुत्तर निर्भर है। किसी पाप के उपस्थित होने पर हम उससे डरें वा उसके सन्मुख अपना सिर झुकावें? अथवा उस पाप के विरुद्ध पाप ही को सन्मुखीन करें, मृत्यु के आघात दुःख के आघात के ऊपर रिपु की उन्मत्तता को जागृत करें? शिशु के आचरण में देखा जाता है कि जब वह गिरता है तब वह उल्टे जमीन ही को मारता है। वह जितना ही मारता है, फलस्वरूप उसको उलटा ही लगाती है। परन्तु यदि किसी वयस्क को ठोकर लगती है तो वह सोचता है कि वह किसी प्रकार दूर की जावे। परन्तु हम देखते हैं कि किसी समय बाहर के आकस्मिक आघात की चमक में मनुष्य भी शिशु की बुद्धि वाला हो जाता है। वह उस समय सोचता है कि धैर्य का अवलम्बन करना ही कापुरुषता है, क्रोध का प्रकाश करना ही पौरुष है। हम यह स्वीकार करते हैं कि आज दिन स्वभावतः ही क्रोध आवेगा, मानव धर्म तो बिल्कुल छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु यदि क्रोध से अभिभूत हों तो वह भी मानव-धर्म नहीं है। आग के लग जाने पर यदि सब कुछ भस्म हो जावें तो आग की रुद्रता लेकर आलोचना करना वृथा है। विपद सभी पर आती है, जिनके पास उसके प्रतिकार के उपाय नहीं है वे भी दोषी हैं।

भारत वर्ष के अधिवासियों के मुख्यतया दो भाग हैं- हिन्दू और मुसलमान। यदि हम यह समझें कि मुसलमानों को एक ताक में रख देश की सभी मंगल चेष्टाओं में सफल होंगे तो यह भी एक बहुत भारी भूल है। हमारे लिये सब से ज्यादा अमंगल और दुर्गति का विषय यह है कि मनुष्य मनुष्य के पास रहता है किन्तु उनके मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राज्य में राजपुरुषों के साथ हमारा एक बाह्य योग-दल है, किन्तु आन्तरिक सम्बन्ध नहीं रहता। विदेशी राजत्व में यही हमारे लिये सब से अधिक पीड़ाजनक है।

इसी से आज हमें देखना होगा कि हमारे हिन्दू समाज में कहां कौन सा छिद्र है, कौन सा पाप है, अति निर्भय भाव से उस पर हमें आक्रमण करना होगा। इसी उद्देश्य को लेकर आज हिन्दू समाज को आवाहन करना होगा, कहना होगा हम पीड़ित हुए हैं हम लज्जित हुए हैं, बाहर के आघात से नहीं किन्तु अपने भीतर के पापों के फलस्वरूप। आओ, आज हम सब मिलकर उस पाप को दूर करें। परन्तु हमारे लिये यह बहुत सहज बात नहीं है क्योंकि हमारे भीतर बहुत प्राचीन अभ्यस्त भेद-बुद्धि भरी हुई है। बाहर बहुत पुरानी भेद की प्राचीर है। मुसलमानों ने जिस समय किसी उद्देश्य को लेकर मुसलमान समाज को आवाहन किया है, उन्हें कोई भी बाधा नहीं पड़ी। एक ईश्वर के नाम पर 'अल्लाह हो अकबर' कह कर उन्हें बुलाया है। फिर आज हम सब बुलावेंगे

हिन्दू आओ, तब कौन आवेंगे? हमारे मध्य कितने छोटे-छोटे सम्प्रदाय हैं, कितनी प्रादेशिकता है, उनको पार कर कौन आवेगा? कितनी आफ़तें पड़ीं परन्तु कभी भी तो हम एकत्रित नहीं हुए। बाहर से जब पहला वार मुहम्मद गौरी का हुआ था, तब भी तो उस आसन्न विपद् के दिन हिन्दू एकत्र नहीं हुए थे। इसके बाद मन्दिर के बाद मन्दिर लुटने लगे, देव मूर्तियें झूठी होने लगीं, तब वे अच्छी तरह लड़े हैं, मारे गये हैं, खण्ड-खण्ड होकर युद्ध करके मरे हैं, किन्तु एकत्र नहीं हुए। अलग-अलग थे, इसीलिये मारे गये। युग-युग में हमारे इसके प्रमाण हैं। हां, सिक्खों ने अवश्य एक समय इस बाधा को दूर किया था। परन्तु सिक्खों ने जिसके द्वारा इस बाधा को दूर किया वह सिक्ख धर्म था। पंजाब में सिक्ख धर्म के आवाहन करने पर जाट-प्रकृति सभी जातियां एक झण्डे के नीचे एकत्रित हो सकीं थी। एवं, वे ही धर्म की रक्षा करने के लिये खड़ी हो सकी थीं। शिवाजी ने भी एक समय धर्मराज्य की स्थापना की नींव डाली थी। उनकी जो असाधारण शक्ति थी उसी के द्वारा वे समस्त मराठों को एकत्र कर सके थे। इसी सम्मिलित शक्ति ने भारत वर्ष को अपनाकर छोड़ा था। घोड़े के साथ जब घुड़सवार का सामञ्जस्य रहता है तभी वह घोड़ा किसी भी तरह नहीं रुकता। शिवाजी का ऐसा ही सामञ्जस्य था। बाद में ऐसा सम्बन्ध नहीं रहा। पेशवाओं के मन में आचरण में भेद-बुद्धि का उदय हुआ, और इसी के फलस्वरूप उनका पतन भी हुआ। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो हमने भेद-बुद्धि के पाप को पाल रखा है, यह अत्यन्त भयंकर है। पाप का प्रधान आश्रय दुर्बल के मध्य है। अत एव यदि मुसलमान हमें मारते हैं और हम यदि उसे पड़े-पड़े सह रहे हैं, तो यह केवल सम्भव हुआ है हमारी दुर्बलता के कारण। हमारे लिये, एवं प्रतिवेशियों के लिये भी हमें अपनी दुर्बलता को दूर करना होगा। हम प्रतिवेशियों के निकट अपील करते हैं कि तुम इतने क्रूर मत बनो, अपनी उन्नति करो। नरहत्या के ऊपर किसी भी धर्म की भित्ति स्थापित नहीं की जा सकती। परन्तु यह अपील इसी दुर्बलता का रोना है। जिस प्रकार वायुमण्डल के घिर आने पर झड़ी आप ही आरम्भ हो जाती है, धर्म की दुहाई दे उसे कोई बाधा नहीं दे सकता, उसी प्रकार दुर्बलता के पाल रखने पर अत्याचार भी होने लगते हैं, उनमें कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता। कुछ समय के लिये एक उपलक्ष्य को लेकर परस्पर में कृत्रिम बन्धुता हो सकती है, किन्तु चिरकाल के लिये नहीं हो सकती।

आज हमारे अनुताप का दिन है, आज अपराध का प्रायश्चित करना होगा। सत्यमय प्रायश्चित्त यदि हम करेंगे तभी शत्रु हमारा मित्र हो सकेगा, रुद्र हमारे प्रति प्रसन्न होंगे।

(अलंकार, वर्ष ३, अंक ६-१० से उद्धृत)

बलिदान दिवस पर-

"स्वामी श्रद्धानन्द"

प्रणेता-
सुशील कुमार त्यागी "अमित"
विद्याभास्कर, शास्त्री, एम.ए. (हिन्दी)
अध्यापक–गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार

कूट-कूट कर भरी हुई थी,
त्याग, तपस्या की शुचि खान।
प्राण देश-हित किये न्यौछावर,
आर्यजनों की बन पहचान।।

जग में शुद्धि-चक्र चलाया,
देश-विदेश-उपदेश दिया।
कीर्ति-किरण फैलायी जग में,
गुरुकुल का विस्तार किया।।

अभय दयानन्द के अनुयायी,
क्रान्तिकारि, बलिदानी वीर।
स्वामी श्रद्धानन्द बिना है,
आर्य जगत् के उर में पीर।।

धृतिवर श्रद्धानंद स्वामी ने,
सीने पै गोली खायी।
देकर निज बलिदान, सुयश की-
धवल पताका फहरायी।।

बहुत याद आते आर्यों को,
स्वामी श्रद्धानन्द महाराज।
देता हूँ ''बलिदान-दिवस'' पर
'अमित' स्वीय श्रद्धाँजलि आज।।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और स्वामी श्रद्धानन्द

डॉ. वीनेश

एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी), पी–एच.डी., गुरुकुल कांगड़ी

उन्नीसवीं सदी के देशभक्त मनीषियों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया था कि देश की स्वतंत्रता एवं एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा का होना अत्यावश्यक है और वह हिन्दी ही हो सकती है अन्य कोई नहीं। इस सत्य को उन महानुभावों ने हृदय से स्वीकार किया जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, इन महामानवों में महर्षि दयानन्द का नाम सर्वोपरि है, जिनकी मातृभाषा गुजराती थी और प्रिय भाषा संस्कृत थी। स्वामी श्रद्धानन्द की मातृभाषा भी हिन्दी नहीं थी। पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए गुरुकुल कांगड़ी ने जो कुछ किया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

स्वामी जी की प्रेरणा से ही आर्यसमाज ने सर्वप्रथम शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होने की आवाज उठाई थी। इस दिशा में गुरुकुल कांगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किए गए। यहां के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। महात्मा मुंशीराम जी के आग्रह पर श्री महेश चरण सिन्हा और श्री गोवर्धन शास्त्री ने आज से ६० वर्ष पूर्व रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, विद्युत् शास्त्र, भौतिकी और रसायन जैसे विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार की थीं। विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की समृद्धि करने वाले विद्वानों में गुरुकुल के उपाध्यायों एवं स्नातकों का नाम प्रथम पंक्ति में रहा है। स्वामी जी ने यह प्रमाणित करके कि किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी जा सकती है, सबको विस्मित कर दिया था। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने गुरुकुल की प्रशंसा करते हुए कहा था- "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

गुरुकुल द्वारा हिन्दी की प्रतिष्ठा देखकर महात्मा गांधी ने महामना मदनमोहन मालवीय से कहा था "गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी में गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं।"

हिन्दी साहित्य की आत्मकथा, जीवनी, यात्रावृत्तान्त आदि की विविध विधाओं के साथ-साथ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने वन विहार की रोमांचक कथाएं हिन्दी में

लिखी हैं। हिन्दी पत्रकारिता और अनुसन्धान के क्षेत्र में गुरुकुल का प्रशंसनीय योगदान रहा है।

भारत वर्ष के विशुद्ध इतिहास के साथ वैदिक देवताओं और ऋषियों पर शोध परक लेखन का उत्कृष्ट कार्य गुरुकुल ने किया है। अनुसन्धान की तरह गुरुकुल के स्नातकों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में अभूतपूर्व जागरुकता और विवेक बुद्धि का परिचय दिया है। आर्यसमाज के स्थापना काल से स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ था, वह अन्ततः व्यापक राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तित हो गया। इस सन्दर्भ में हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार क्षेमचन्द्र सुमन ने कहा था-"आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

यदि महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी पत्रकारिता का जो रूप आज देश में प्रतिष्ठित है, वह दिखाई न देता। महात्मा मुन्शीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक १६ फरवरी १८८६ को प्रकाशित हुआ था। अनेक वर्षों तक यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुन्शीराम के अन्तर में हलचल हो गई और १ मार्च १६०७ से उन्होंने सद्धर्म प्रचारक की भाषा हिन्दी कर दी। पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही थी। मित्रों ने बहुत समझाया कि हिन्दी की पत्रिका को कौन पढ़ेगा? पंजाब में तो हिन्दी केवल महिलाएं ही पढ़ती हैं। तब गर्जना करते हुए महात्माजी ने कहा था- 'देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है।' स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ रचना कर सकते हैं तो उनके अनुयायी हम थोड़ा सा भी त्याग नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है। और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी।

महात्मा जी स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये अपितु अपने दोनों पुत्रों को इस मार्ग का पथिक बनाया। उन्होंने सन् १६१८ में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक सद्धर्म प्रचारक दैनिक के रूप में भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने न केवल दैनिक 'विजय' प्रकाशित

किया अपितु अर्जुन, नवराष्ट्र और जनसत्ता जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र प्रकाशित कर हिन्दी पत्रकारिता की जो सुदृढ़ आधारशिला रखी आज उसी पर हिन्दी पत्रकारिता का भव्य प्रसाद खड़ा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति महात्मा मुन्शीराम की ऐसी भक्ति को देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें भागलपुर के चौथे वार्षिक अधिवेशन का सन् १६१३ में अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में आपने हृदयस्पर्शी भाषा में कहा था-"पर भाषा में विचार उठने से जहां सभ्यता विदेशी होगी वहां राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उन्होंने उर्दू भाषी होते हुए भी अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' हिन्दी में लिखी। अपनी इस अमर आत्मकथा में उन्होंने अपनी जीवन गाथा का और उसमें आने वाले उतार चढ़ावों का जैसा स्पष्ट और सत्य चित्रण किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन में स्वामी श्रद्धानन्द का, उनके यशस्वी पुत्र प्रो० इन्द्रजी का एवं गुरुकुल के स्नातकों एवं उपाध्यायों का नाम हिन्दी भाषा के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

"इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं रखता। मैं तो केवल इतना चाहता हूं कि चोला बदलकर दूसरा शरीर धारण करुं। इच्छा है कि फिर भारतवर्ष में उत्पन्न होकर देश की सेवा करुं"।

-स्वामी श्रद्धानन्द

(जन-ज्ञान, दिसम्बर 1995, पृ0 31)